१—शैशवम्

अस्मिन्नेव वपुष्युन्मिषितं हन्त ! अस्मिन्नेव निमिषितं तच्चिरलालितं-शैशवम् ; यस्मिन् हृदयं सुकुमारतरम्, स्मितविजृम्भितं प्रस्फुटौष्ठपल्लवं विकचदन्तपंक्तिकं मुखम्, मुक्तहासपुलकौ कपोलफलकौ, फुल्लाम्भोजस्मेरे नयने, सर्वेऽवयवा नवामृतप्रसवनिपुणा व्यलषन्त ।

अहो तारुण्यमायातम्—विलीनं हृदयसौकुमार्यम्, ग्यानिगलित-मजनि वदनम् चिन्ताविचलिता कपोलपटली, विच्छाया दृष्टिः, प्रौढानि निःशेषाङ्गोपाङ्गानि ।

भवतु चैतत्—भवतु वाङ्गोपाङ्गविपर्यासः । सर्वं सहिष्ये । क्षमां स्वीकरिष्ये । परन्तु शैशव ! त्वयि विद्यमाने प्रादुर्भूताः सहजसुन्दरा विचारा अपि व्यजिगमिषन् । तदसह्यम् । हा ! क्व हृदि तत्सहजसौजन्यम्, हा ! क्व सानेन सर्वमनोहारिणीषद्धसनरेखा, हा ! क्व तन् सर्वतोमुखि हास्यम्, हा ! क्व लोचने स निर्विकारः प्रणयः । हा ! हा !! क्वावयवे-ष्वपि वीतमोहा प्रवृत्तिः । सर्वं विपर्यस्तम् । धूलिधूसरतनुमपि शावं साव-काशं जनाः करयुगलतालेनोच्चैः शिरसि मुहुरधारयन् । वियति बहुवार-मुदलालयन् ।

न च तदा वाचि काचन चातुरी केलिमकृत, तथापि तल्ललत्स्वरो भृशमाचकर्ष चतुरचेतसामपि चेतांसि । न च विचारेष्वपि कापि वैदग्धी बभौ, तदपि यत्किञ्चिदपि शंसितमसंशय्यं "जे भाखे बालक कथा झूठ न होय लिगार" जनाः साम्नायं दध्युः । बत ! स्मृतिमात्रमजनि सर्वमद्य । अद्यतने युवहृदये न च सा श्रद्धा, न च विकृतिशून्यं प्रेम न च सार्वजनिकी निःस्वार्थसद्भावना, सर्वमपि स्वं क्वापि यौवनगर्भे तिरोहितमिव ह हा !! विलोक्यते ।

शैशव ! त्वां प्रार्थयामि, प्रिय ! पुनरागच्छ । जिगमिषां संवृणु । अव-यवेषु न तिष्ठासुः, मा तिष्ठ । नाहमित्यनुरुणध्मि । मम विचारेषु कार्य-प्रकारेषु सुखमास्स्व । एहि, पश्य ममान्तर्भावनाम् । त्वरस्व मित्र ! मां सफलय, कृतार्थय मनोऽभिलाषं प्रिय शैशव !

१—शैशव

चिरलालित शैशव इसी शरीर में विकसित हुआ था और खेद है कि वह इसी में विलीन हो गया। शैशव-काल में हृदय अत्यन्त सुकुमार था, अधरों में स्मित भरा था, मुख में दाँतों की पंक्ति बड़ी सुहावनी लगती थी। कपोल मुक्तहास से फूले रहते थे, दोनों नयन कमल से खिले हुए थे और सभी अवयव नव अमृत के निर्झर बने हुए थे।

अहो! यौवन आया। हृदय की सुकुमारता विलीन हो गई, मुँह पर उदासी छा गई, कपोल चिन्ता से विचलित हो गए, दृष्टि की शोभा क्षीण हो गई, सभी अवयव प्रौढ़ हो गए।

यह सब भले ही हो—अंगोपांग का विपर्यास भी भले ही हो। सब कुछ सहूँगा। क्षमावान् बनूँगा। परन्तु शैशव! तुम्हारी विद्यमानता में जो सहज सुन्दर विचार उत्पन्न हुए थे, वे भी चले जाना चाहते हैं—यह असह्य है। हा! हृदय में वह सहज सौजन्य कहाँ है? हा! आज मुख पर स्फुट स्मित रेखाएँ कहाँ है? हा! वह सर्वतोमुखी हास्य कहाँ है? हा! आँखों में वह निर्विकार प्रेम कहाँ है? हा! हा! अवयवों में भी वह मोह-रहित प्रवृत्ति कहाँ है? सब विपरीत हो गया है।

धूल से लिपटे हुए शिशु को भी लोग दोनों हाथों से उठा अपने शिर पर बिठा लेते थे और बार-बार उसे आकाश में उछालते थे। उस समय उस शिशु में कोई वाक् चातुरी नही थी, फिर भी उसके तुतलाते स्वर निपुण व्यक्तियों के भी चित्त को आकृष्ट कर लेते थे। उसके विचारों में कोई विद्वत्ता नहीं थी, फिर भी जो कुछ वह कहता, लोग उस पर ध्यान देते थे। खेद है, वह अतीत अब केवल स्मृति-मात्र रह गया है। आज इस युवक-हृदय में न वह श्रद्धा है, न विकार-शून्य प्रेम और न सार्वजनीन निःस्वार्थ सद्भावना। लगता है, ये सारी चीजे यौवन के गर्भ में कही तिरोहित हो गई है।

शैशव! मैं प्रार्थना करता हूँ, प्रिय! तुम लौट आओ। जाने की इच्छा का संवरण करो। तुम मेरे अवयवों में रहना नहीं चाहते, भले मत-रहो। यह मेरा अनुरोध नहीं है। परन्तु तुम मेरे विचारों और कार्य के प्रकारों में सुख से बसो। आओ, मेरी अन्तर्भावना को देखो। मित्र! शीघ्रता करो। मुझे सफल करो। मेरी मनोभिलाषा को कृतार्थ करो, प्रिय शैशव!

२—अल्पभाषी स्यात्

अल्पं वाच्यम्, मितं वाच्यम्, हितं वाच्यम्। तदपि तत्र, यत्र भवति सार्थकम्। यत्र च जल्पितमपि अजल्पितमिव कुजल्पितमिव वा भवेत्तत्र मौनमेव वरम्। तूष्णीं भजन्तस्तनुमन्तस्तत्त्वतः परं तत्त्वं साधयन्ति। नीतिविदामपि चैतत् प्रेयः—

"मौखर्यं लाघवकरं, मौनमुन्नतिकारकम्।
मुखरौ नूपुरौ पादे, कण्ठे हारो विराजते।"

लोकश्रुतिरपि सहमता यथा—"श्रोतुं श्रोत्रोभयी प्राप्ता, वक्तुमेका जिह्वा, तेन बहु श्रोतव्यं स्वल्पमभिधातव्यम्।" अन्यथा वाचालितसकलदिङ्मुखा द्विजिह्वा द्विजिह्वा इव जनानां पुरतः साक्षान्मृत्युं नर्तयेयुः। आगमस्तु बहुवचनं वारंवारं निवारयत्येव, यथा—'बहुयं माय आलवे'।

कतिचन जनानां प्रकृतिरपीदृशी वर्तते, यतस्ते यथा कथञ्चित् यत्किञ्चित् मौखर्यं कृत्वैवात्मानं धन्यं मन्यन्ते। तादृशानामनल्पजल्पपटीयसां प्रतिपदं भवेदवहेलना। तेषामवितथमपि क्वचित् कथितं लोका नहि श्रद्धते। प्रतीतिरपि पलायते। सत्यं ते एतादृशीं स्थितिं समीयुः, तिरस्कारं सहेरन् अथवा बहुजल्पाकतां संहरेरन्; तदपि ते महाशया विप्रकारं सोढुमुदारा इव नानल्पलपनस्वभावं विहातुमुत्सहन्ते। न्यक्कृता अपि ते नावबुद्ध्यन्ते, बुध्वापि नहि ध्यायन्ति, ध्यात्वापि नहि खिद्यन्ते, न चावसीदन्ति, किमु ना मेयमेव तितिक्षा? किमिदमेव गाम्भीर्यम्? किमियमेव मिलनसारता? नहि नहि प्रकृतिविवशतेयं धृष्टता वा। धन्यास्ते महामनसो मुनयो ये वाचं नियम्य वाचंयमवरत्वं करकमलकोशेऽभिनवपरागमिव लालयन्तो नयाध्वानं विशदयन्ति।

२—अल्पभाषी बनो

थोड़ा बोलो, परिमित बोलो, हितकर बोलो परन्तु यह भी वहीं, जहाँ बोलना सार्थक हो। जहाँ कहा हुआ नहीं कहे के समान या बुरा कहे के समान हो, वहा मौन ही अच्छा है। मौन रहने वाले व्यक्ति सचमुच उत्कृष्ट तत्त्व को साध लेते हैं। नीतिकारों को भी यही प्रेय है।

"वाचलता व्यक्ति को लघु बनाती है और मौन उन्नत। नूपुर वाचाल हैं, इसलिए पैरों में पहने जाते हैं और हार वाचाल नहीं है, इसलिए गले में शोभित होता है।"

लोक-श्रुति भी इससे सहमत है—जैसे—"सुनने को दो कान है और बोलने को एक जीभ।" इसलिए बहुत सुनना चाहिए और कम बोलना चाहिए। अन्यथा समग्र दिशाओं को वाचालित करने वाले बहुभाषी जन द्विजिह-सर्पों की तरह लोगों के समक्ष मृत्यु को ला देते हैं। आगम वाचालता का बार बार निषेध करते हैं। वहाँ कहा है —"बहुत मत बोलो।"

कई व्यक्तियों की प्रकृति ही ऐसी होती है कि वे ज्यों त्यों कुछ न कुछ वाचालता करके ही अपने आपको धन्य मानते हैं। उन वाचाल व्यक्तियों की पग-पग पर अवहेलना होती है। उनके सत्य बोलने पर भी लोग उनका विश्वास नहीं करते। उनको प्रतीति नहीं होती। यह सच है कि उनके सामने ऐसी स्थिति आ जाती है कि वे या तो तिरस्कार सहन करे या वाचालता का संवरण करे। फिर भी वे महाशय तिरस्कार सहने को मानो उदार बन जाते हैं किन्तु अपने वाचाल स्वभाव को छोड़ना नहीं चाहते। वे तिरस्कृत होते हैं, फिर भी उनकी समझ में नहीं आता, समझ में आता है तो भी उस पर ध्यान नहीं देते, ध्यान देकर भी अपने कृत्यों पर खिन्न नहीं होते, न अवसाद ही करते हैं—क्या यही तितिक्षा है? क्या यही गम्भीरता है? क्या यही मिलनसारता है? नहीं, यह या तो प्रकृति की विवशता है या ढिठाई। वे महामना मुनि धन्य है, जो वाणी का संयम कर वाचंयमत्व को सार्थक करते हुए न्याय-मार्ग को प्रशस्त बनाते है।

३—मिताशनो भवेत्

एतस्य पौद्गलिकशरीरस्य निर्वाहार्थमस्ति भोजनमपि नितान्तमावश्य-कम । विना तेन नहि तत्किमपि कर्तुमलमित्याह्रियते तनुभृद्भिरिति नैसर्गिकम्। परन्तु सरसरसास्वादनलम्पटां महानर्थजननीं जिह्वां संतोषयितुमतिमात्र-मदन्ति येऽदमितेन्द्रियास्ते भवन्ति केवलं कुक्षिंभरय आत्महितानामरयश्च। रयेण ते च्यवन्ते स्वकर्तव्यसरणेः। अरण्यानीं पतिता इवापद्यन्ते प्रतिपदं सपदि सपदि विपदाः। अनुपदमनुतपन्ति स्खलितात्मसामर्थ्याः। अतएव शास्त्रमुपदिशति नामितमहार्यमिति !

अधिकमशितं स्यादधिकरसितमिति नहि विश्वसितव्यमुच्छ्वसितसज्ज्ञान-कुसुमैर्जनैः। सर्वमपि कार्यं समात्रमेव जन्यते पात्रम्। गात्रमपि किं न भवति शिथिलमतिव्यवहृतम्? किं नातिमानं स्नानमपि सत्वरं जनये-ज्ज्वरम्?

"हांडी फाटै नेठ रे, अधिको ऊरियां"

इत्यपूर्वं श्री भिक्षुस्वामिनो वाक्यं प्रकाशयति वल्भनैयत्यहितम्। सहज-सुहिताः सन्तो हितावहामात्मसाधनामनुनयन्तो नियतं मिताहारकारिणो ब्रह्मचर्यमहाव्रते विहरन्ति मुदमावहन्तः।

ब्रह्मचारिणामस्वादो यथा निर्विवादं बलप्रदस्तथा मिताहारोऽपि स्यात् सुखावहः। येन केनापि जनेन कयापि दृशा मिताशित्वमुपासनीयम्। तत्रापि ब्रह्मचारिभिस्तु सुचिरं चिन्तनीयमिति ब्रह्मव्रतोपनिषद्भूतं तत्वं सनातनम्।

३—मिताहारी बनो

यह शरीर पौद्गलिक है। इसके निर्वाह के लिए भोजन अत्यन्त आवश्यक है। उसके विना वह कुछ भी करने में समर्थ नहीं होता। इसीलिए शरीरधारी प्राणियों के लिए भोजन करना नैसर्गिक है। परन्तु जो अदमितेन्द्रिय व्यक्ति केवल अपनी रसलम्पट और महान् अनर्थों की जननी जिह्वा को तृप्त करने के लिए मात्रा से अधिक खाते हैं, वे केवल 'पेटू' और आत्म-हितों के शत्रु होते है। वे सहसा कर्तव्य-पथ से च्युत हो जाते हैं। घोर अटवी में पथभ्रान्त व्यक्ति की तरह वे पग-पग पर विपदाओं से घिरे रहते हैं। उनका आत्म-सामर्थ्य स्खलित हो जाता है, वे पग-पग पर अनुताप करते हैं। इसीलिए शास्त्र उपदेश देता है कि 'अपरिमित मत खाओ।'

बुद्धिमान् व्यक्तियों को यह कभी विश्वास नहीं करना चाहिए कि अधिक भोजन अधिक रस देता है। सभी कार्य मात्रा-सहित ही योग्य होते हैं। क्या अत्यधिक काम लेने से शरीर भी शिथिल नहीं हो जाता? क्या अतिमात्रा में किया हुआ स्नान ज्वर पैदा नहीं करता?

"पकाने के लिए हांडी में मात्रा से अधिक अन्न डाला जाए तो वह फट जाती है"—आचार्य भिक्षु का यह वाक्य परिमित भोजन से होने वाले हित पर प्रकाश डालता है। सहज तृप्त होने वाले संत अपनी साधना में रत रहते हुए अल्प भोजी होते हैं। वे सदा प्रसन्न रहते हुए ब्रह्मचर्य महाव्रत में विहरण करते हैं।

यह निर्विवाद है कि ब्रह्मचारियों के लिए अस्वाद जैसे बलप्रद होता है, वैसे ही मित भोजन भी सुखकर होता है। जिस किसी भी व्यक्ति को किसी भी दृष्टि से मिताहार का अभ्यास करना चाहिए। ब्रह्मचारियों को सदा ऐसा मानना चाहिए कि मित भोजन ब्रह्मचर्य का परम साधक तत्त्व है।

४—अन्तर्दशा

आकारे प्रकारेऽस्मि मनोहरः। अचारेऽपि दर्शयामि कौशलम्। विचारेऽपि य सूचयामि नैपुण्यम्। आर्जवं हृदये, पाटवं वाचि, दीर्घदर्शित्वं मनीषायाम्, स्मितं रदनावलिषु, नयनोः सौहृदम्, अञ्जलौ भक्तिम्, अवनतशिरसि नम्रताम्, आनने गभीरताम्, निखिलक्रियाकलापे हि धीरताञ्च दर्शं दर्शमस्पृशं बहिरङ्गदृशां पुरतो वीतरागदशाम्।

अहह! गुरुमहिमा सद्गुरोः सङ्गः व्यङ्गः समजनि साम्प्रतं बाह्यदर्शनरङ्गः। अङ्गेऽङ्गे कूर्दत्युपवने पवनचपलकुरङ्ग इव, राजीवराजौ भृङ्ग इव सद्विरङ्गः। अब्धे रङ्गतरङ्ग इव समुन्नतः सन्मतिप्रसङ्गः। उद्घटितमन्तश्चक्षुपा विलोकेऽन्तरदृशाऽन्तरदशाम्। ज्ञातं मया बत! आचारे सन्ति व्योमविपुलानि विवराणि विचारेततोऽनन्तगुणितानि। कर्तयो द्वैधीकुर्वन्ति हृदयं परापायविचिन्तनेन सत्रा। गीरपि निर्भयमुच्चेष्टते निम्नयितुमपरान्। धीरपि ध्यायति स्वार्थसंसिद्धिम्। ईषद्धसनमपि चकास्ति वञ्चयितुमशेषान्। ईक्षणयोरपि स्वानीप्सितान् प्रतिज्वलति कोपकृशानुः। अञ्जली नियन्त्रितुमिच्छति परमनोरथान्। नतमपि मस्तकं रतमस्ति भूतलावलम्बि समस्त दूषितवातावरणमास्प्रष्टुम्। वदनगम्भीरिमापि संतिष्ठते सोढुमन्यतिरस्कृतिम्।

किं किं विलोके किं किञ्च कथयामि लिखामि वा, सर्वमपि बाह्यदर्शनतो विपरीतमस्त्यन्तरात्मनि। एतच्चिन्तयामि विशदचेतसा, तदानीमेव तरसा परिस्विद्यते वपुपा, खिद्यते मनसा, क्लिद्यते वचसा, अश्रूणि मुञ्चन्ति लोचनानि, शुचो दहन्ति चान्तःकरणानि। कथं भविष्यति मुक्तिः? वृथा गमिष्यति युक्तिः।

४—अन्तर्दशा

मैं आकार-प्रकार में मनोहर हूँ। आचार में भी कुशलता का प्रदर्शन किया करता हूँ। विचारों में भी निपुणता दिखाता हूँ। हृदय में ऋजुता, वाणी में पटुता, वुद्धि में दीर्घदर्शिता, दन्तपंक्ति में स्मित-हास्य, आंखों में सौहार्द, अंजलि में भक्ति, झुके हुए शिर में नम्रता, मुख पर गम्भीरता और समस्त कार्यकलापों में धीरता को दिखा-दिखा कर वहिर्द्रष्टाओं के समक्ष में वीतराग वन जाता हूँ।

अहो! सद्गुरु के संग की महिमा बहुत वड़ी है। अव मेरे वाह्य प्रदर्शन का रंग फीका पड़ गया है। अव मेरे अंग-प्रत्यगों में वैराग्य छलागे भर रहा है, जैसे उपवन में हरिण पवन गति से छलागे भर रहा हो और कमल की पंक्ति पर भंवरा मंडरा रहा हो। सिन्धु की लहरों की भाति मेरी सन्मति समुन्नत हो रही है। अन्तर् की आख खुल गई है। अव मैं अन्तर्दृष्टि से अन्तर्दशा को देख पा रहा हूँ। मैंने जान लिया है कि मेरे अपने आचार में आकाश जितने वड़े विवर हैं और विचारों मे उनसे भी अनन्तगुने वड़े। दूसरों के अनिष्ट चिन्तन के साथ-साथ कैंची हृदय को काट रही है। वाणी भी दूसरों को नीचा गिराने के लिए इस प्रकार चेष्टा कर रही है, मानो उसे कोई भय ही न हो। बुद्धि भी स्वार्थ-सिद्धि में लगी हुई है, मुस्कान भी सभी को ठगने के लिए फूटती है। आंखो में भी अपने अनिष्ट लोगों के प्रति क्रोधाग्नि प्रज्वलित रहती है। अंजलि दूसरों के मनोरथों को नियंत्रित करना चाहती है। झुका हुआ मस्तक भी पृथ्वी-तल पर, छितरे हुए समस्त दूषित वातावरण को स्पर्श करने मे रत है। मुख की गम्भीरिमा भी दूसरों के तिरस्कार को सहने के लिए है।

क्या क्या देखूं? क्या क्या कहूं या लिखूं? अन्तरात्मा मे वाह्य-दर्शन से सब कुछ विपरीत हो चला है। जव मैं पवित्र मन से यह सोचता हूँ, तभी शरीर स्वेद से भींग जाता है, मन खिन्न हो जाता है, वाणी आर्द्र हो जाती है, आंखो से आंसू वह चलते है और चिन्ताएं अन्तःकरण को जलाने लगती हैं। मुक्ति कैसे होगी? चतुराई व्यर्थ हो जाएगी।

५—विनयः

अध्यात्मोपजीविनां विनय एव भूषा। अदूषिता गुणा विनयादेव प्रगुणी भवन्ति, द्विगुणीभवति च विभूषा सदसि संख्यावताम्। प्रख्यातमिदमाकर्ण्यते यद् विनयेन विद्यावर्जिता अपि बहवो विनेया गुरुवरान् परं प्रसादयामासुः। नैकेषां पाण्डित्याभिनयं रचयतां विनय-विकलानां निःशेषा अपि कलाः गहनविटपिप्रसूनानीवाऽकिञ्चित्कराः, पवनप्रेरितातिकलिलसलिल बुद्बुदा इव च समूलं विलयमालुः।

समुद्रेकविनयपरिपाटीनां मुनिनामद्यापि पाथोधिलहर्य इव समुच्छलन्ति यशांसि चुम्बन्ति सद्-विवेकसमुन्नतानि चतुरचेतस्विचेतांसि। बहुश्रुत-विश्रुतं श्रुतमिदमनेकशोऽपि कोऽपि विनीतव्यवहारेण नीतगुरुहृदयोऽनुनयं समुज्ज्वलयितुमिवाचार्यस्य स्फीतफलकां तुलामारुरोह। स एव सत्ययुगी-मुनिवरः खेतसीस्वामी युवाचार्यपत्रे पदं निनाय विनयाततयशाः श्रीमद्-द्वितीयपूज्यपादसम्मुखे।

विनीताः सवयसः! निरीक्षध्वं विनयस्यातिशायिनीं लक्ष्मीम्। नैतावन्मात्रमेव तत्फलं कलयितव्यं व्यक्तैः। "परमोय से मुक्खो" मोक्षोऽपि विनयसाध्य एवोक्त आगमे। स्तब्धता संसारेऽपि नहि किमपि सारं जनयति तदानीमात्मसाधनायां सा विक्षोब्धव्यैव विबुधैः। का च नम्रतेति वेत्ति स्वयमेव शुद्धमानसः। महानसे धुरिआसनं न्यासयतो न नाम रसवतीज-पदार्थस्वादोऽत्राऽपरिचितो भवेत्। उपचीयते प्रेक्षावद्भिरेवविशदो विनयः, नीयत एवाध्यात्म-सुखमिति।

५---विनय

अध्यात्मवादियों का भूषण है विनय। उसीसे ही पवित्र गुण विकासशील बनते है और उसीसे विद्वत्-सभा मे शोभा द्विगुणित होती है। यह प्रख्यात है कि विद्या-विहीन भी अनेक शिष्य अपने विनय से गुरु को प्रसन्न कर लेते थे। पाण्डित्य का अभिनय करने वाले बहुत सारे विनय-विकल व्यक्तियों की समस्त कलाएं गहन जगल के फूलों की तरह अकिंचित्कर हो गई और पवन से प्रेरित जल-बुद्बुद् की भाति विलीन हो गई।

विनयः प्रवण मुनियों का यश सिन्धु की लहरों की तरह उछलता हुआ सद् विवेक से समुन्नत चतुर व्यक्तियों के चित्त का आज भी चुम्बन कर रहा है। यह बहुश्रुतों में विश्रुत है और अनेक बार सुना गया है कि एक मुनि अपने विनीत व्यवहार से गुरु के हृदय को जीतकर आचार्य पद की तुला में आरूढ़ हो गए; मानो विनय को समुज्जवल कर रहे हों। उन्हीं सतयुगी मुनिवर 'खेतसी' स्वामी का नाम, जिनका यश विनय से प्रसारित हो रहा था, तेरापंथ के द्वितीय आचार्य के द्वारा उत्तराधिकार-पत्र में लिखा गया।

विनीत साथियो ! विनय की अतिशायिनी श्री को देखो। विनय का इतना ही फल है, यह बुद्धिमान व्यक्तियों को नही समझना चाहिए। उसका परम फल है मोक्ष। "मोक्ष विनय के द्वारा सधता है"—ऐसा आगम में कहा है। स्तब्धता संसार में भी कुछ सार उत्पन्न नहीं करती। वैसी स्थिति मे आत्म-साधना में उसे नष्ट कर देना ही अच्छा है। नम्रता क्या है—यह पवित्र हृदय वाला स्वयं जान लेता है। जो व्यक्ति रसोई घर में सबसे आगे आसन बिछाता है, उससे वहाँ पके हुए पदार्थों का स्वाद अपरिचित नहीं रहता। बुद्धिमान् व्यक्ति ही विशद-विनय को उपचित करते हैं और अध्यात्म-सुख पाते है।

६—विनीतः

स एव विनयी, यो गुरोः प्रसादाप्रसादौ समदृशा सहेत। अद्वैतं भवति तादृशं हृदयम्, यत्कठोरायामपि मुनिपदृशि विनाछद्म अन्तर्भक्तिसद्म हिमानीनिपात-वेलायां पद्ममलिरिवोपवसेत्। सत्यां स्वार्थसिद्धौ प्रतिष्ठायां च लभ्यमानायां सर्वेऽपि विनयिनः। न सिद्ध्यत्यपि कार्ये परमार्थतो हि यो भक्तिमाचरति तमेव वृणोति विनयलक्ष्मीः, विवृणोति पण्डितजनश्च सौजन्य-पूर्णायां स्वललितरचनायाम्।

क्षणे भक्तिं क्षणे शक्तिञ्च व्यनक्ति योऽव्यक्तचेता आचार्यचरणेषु, तस्य विनयकौशलं रूपेव भवति दोपलम्। क्वचिन्नयनशोणिम्नि अनुनयधवलिमानं तिरोदधतः, क्वचन मुक्तहासेन द्विगुणयतः सतः प्रतिपलं वेषभूषां परिवर्तयतश्च भवतु किमुपलक्षणं विचक्षणानां विचारेषु। सर्वास्वपि परिस्थितिषु समत्वं गमयतामेव क्रमनम्रत्वमवगमनीयम्।

रमणीयमिति कर्णातिथीकृतमपि पुनः कर्णकोटर-कुटुम्बीकरणीयम्, स्मरणीयं खेतसीस्वामिसच्चरित्रम्। भरितस्तटाको रिक्तीकृतोऽपि तथैव तृषमप हरेन्नयनानन्दञ्च जनयेद्, किमतः परं चित्रमुन्नेयम्। जीतमल्लमुनिनाभ्यर्थिता भारमल्लगणिवरास्तस्य मुनेर्नाम युवाचार्यपदात् पृथक्चक्रिरे। तस्यामपि दशायां तादृश एव विनय उल्लास, यादृशः पुरा नामोल्लेख-समये चकासामास। ततः प्राग् नासीन् कापि पदावाप्तिनीतिः, तदनन्तरञ्च न क्षीणा कापि प्रीतिः, रीतिरेषा विनयस्य सम्यगाराधिता तत्त्वनिष्णातेन मुनिवर्येण।

६---विनीत

विनीत वह है, जो गुरु के प्रसाद और अप्रसाद को समदृष्टि से सहे। वैसा हृदय अद्वितीय होता है, जो आचार्य का दृष्टिकोण कठोर होने पर भी सरलता से आन्तरिक भक्ति में रहे, जैसे—महान् हिमपात की वेला में भौंरा पद्म मे सिमिट जाता है। जव स्वार्थ-सिद्धि होती है और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, उस समय सभी विनीत होते हैं। अपना स्वार्थ न सधने पर भी जो भक्ति करता है, विजय-लक्ष्मी उसे अंगीकार करती है और पण्डित लोग अपनी सौजन्यपूर्ण, ललित रचनाओं में उसका विवरण देते है।

जो शिष्य अपने आचार्य के समक्ष एक क्षण में भक्ति और दूसरे क्षण मे शक्ति दिखाता है, उसका विनय-कौशल क्रोध की तरह दोषाविल हो जाता है। कहीं आखो की लालिमा मे अनुनय की धवलिमा को छिपाता है और कहीं मुक्तहास से अनुनय की धवलिमा को द्विगुणित कर देता है। इस प्रकार जो पल पल वेष-भूषा का परिवर्तन करता रहता है, वह विचक्षण लोगों के द्वारा कैसे पहचाना जाए? सभी परिस्थितियों में सम रहने वाले ही वास्तव में सच्चे विनीत हैं। खेतसी स्वामी का जीवन-चरित्र यहाँ स्मरणीय है। वह रमणीय है, इसलिए श्रुत होने पर भी पुनः सुनने योग्य है। भरा हुआ तालाब खाली किए जाने पर भी पहले जैसा ही प्यास बुझाए और आंखो में आनन्द भरे, इससे अधिक क्या आश्चर्य हो सकता है? जीतमल मुनि की प्रार्थना पर आचार्य भारमलजी ने इनका (खेतसी) का नाम युवाचार्य-पद से हटा दिया।

उस दशा में भी उनका विनय वैसा ही उल्लसित हो रहा था, जैसा कि नामोल्लेख के समय था। नामोल्लेख से पहले उनकी कोई पद-प्राप्ति की नीति नहीं थी और नाम हटाये जाने पर न उनकी प्रीति ही क्षीण हुई थी। विनय की यह रीति है। तत्त्व-निष्णात मुनिवर्य ने उसकी भलीभाति आराधना की।

७—कुक्षिंभरिरजः

वत्स ! मा दुःखमावह। किमु निरर्थकं कम्पसे किल कम्पाङ्कसन्निपाता-वधूततरुकिसलयसङ्घात इव प्रत्यङ्गम् निश्चिनु त्वां प्रति नेयं क्षुरिका कृतान्तं प्रति नीतिविदिव मुखमपि सन्निधास्यते। आस्ये स्फुरतु तवच्छाया। मायामस्य पश्यसि गृहस्वामिनः ? स्मरसि वत्स ! त्वं किमवोच यत् मातः ! कथमेव प्रभुरस्माकं केवलमेतं महौजसं महाजमेव भोजयति वहुविधानि भोजनानि। नावाभ्यां तृणान्यतिरिच्य वितरति खाद्यमपि पर्वणि। वत्स। अद्य साम्प्रतमेव किं जायेत, तदवलोकस्व। यदसौ कृतान्तदन्तपंक्तिविभीषणः कुटिलश्छुरिकाप्रहारः सद्य एव निर्मास्यति तच्छागार्थं चिरनिद्रोचितां काञ्चन शय्याम्। गौर्न यावद् व्यरमत्, तावदेव सा सुनिशिता कृपाणिका दशसु दिक्षु त्राणं निभालयतः करुणं विलपतश्छगलस्य गलमुदच्छिदत्।

७—पेटू बकरा

वत्स ! दुःख मत कर। हवा के समूह से कम्पित तरु-किसलय के समूह की भाँति निरर्थक ही तेरा समूचा शरीर क्यों काँप रहा है ? निश्चय मान, यह छुरी तेरी ओर मुँह नहीं करेगी, जैसे कृतघ्न की ओर नीतिज्ञ पुरुष अपना मुँह नहीं करता। तेरे मुँह पर प्रसन्नता फूट पड़े। इस गृह-स्वामी की माया को देखता है ? याद है वत्स ! तू क्या कहता था कि मां ! हमारा स्वामी केवल इस बलिष्ठ बकरे को ही बहुविध भोजन क्यों खिलाता है ? हमें पर्व-दिन में घास के अतिरिक्त कुछ भी खाद्य नहीं देता। वत्स ! आज अभी क्या हो रहा है, वह देख ! यमराज की दतपंक्ति जैसा भयावह यह छुरी का प्रहार अभी ही इस बकरे के लिए मरणोचित शय्या का निर्माण कर देगा। गाय अपने बछड़े को यों समझा हो रही थी कि इतने में उस तीक्ष्ण छुरी ने उस बकरे का गला काट डाला; जो दशों दिशाओं में त्राण ढूँढ रहा था, करुण क्रन्दन कर रहा था।

८—साहसम्

(नतकंधरः ललाटपट्टस्पृष्टभूतलः त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य प्राञ्जलिः शिष्यः प्राह) नमो देवाय, स्वस्ति चरणाभ्याम्। (क्षणं किञ्चिदुत्सुक इवास्ते)

आचार्याः—किमिव तिष्ठसि, विवक्षसि ? अनुमीयते—आयातोऽसि किञ्चिज् जिजल्पिषुरिव।

शिष्यः—अन्तर्यामिन आर्याः। सत्यमस्ति काचिच्चिकथयिषा, प्रसन्ना मुनिपतयः अनुशासतु माम् तन्निवेदयामि मुनिपाय हृदयावेदनम्।

आचार्याः—जल्प जल्प, सर्वामपि विकल्पकल्पनां परिहाय संजल्प।

शिष्यः—प्रभो ! विचित्रम् ! अति विचित्रम् !! गणनायका अभिलषन्ते स्वस्य पश्चात् आचार्यद्वितयम् ?

आचार्याः—(ससम्भ्रमम्) नहि कदापि नहि, नैतत् कथमपि सम्भवति भिक्षुगणे।

शिष्यः—तत एव प्रार्थयामि देव ! कथमालोक्यते आचार्यपदवीप्रमाण-पत्रेऽभिधानयुगली।

आचार्याः—नेति नेति अनयोरेक एव भविष्यति गण-सूत्रधारः।

शिष्यः—देव ! इत्येव निवेदयामि निश्चेतव्योऽत्र यथारुचि कश्चिदेकः।

आचार्याः—इमौ स्तो मातुलभागिनेयौ, नात्र विप्रतिपत्तिरिव किञ्चिदपि दृश्यते।

शिष्यः—शासनपते ! सम्यगनुष्ठितमिदम्, अमूद्वावपि सम्बन्धिनौ, उदारौ, निःस्पृहौ—सन्तोष्टव्यमत्र, किन्तु आर्यैः कृतं न खलु साम्प्रतिकमेव, भवति च सार्वदिकम्, इति एनामेव विनीतभावनामुपहरिष्यामि श्रीचरणयोः यद् द्वयोरेकमेव नियुञ्जतां सूक्ष्मदर्शिनो गणिनः।

शिशुमुनेरद्भुतं साहसं दूरदर्शित्वं शासनहितैषित्वञ्च अनुसंधाय हृदयालये प्रादुर्भवदमन्दानन्दसन्दोहेन सार्धमेव तत्कालं निर्वाचयामास भाविगणिमेकम्।

८—साहस

(ग्रीवा झुकी थी, ललाट भूतल को छू रहा था, जुड़े हुए हाथों से तीन् बार प्रदक्षिणा कर शिष्य बोला)

देव ! नमस्कार हो, आपके चरणों में मंगल हो।

(यह कह वह क्षण भर उत्सुक की तरह बैठा रहा)।

आचार्य—ऐसा क्यों बैठा है ? कुछ कहना चाहता है ? मेरा अनुमान है कि तू कुछ कहने की इच्छा लिए यहाँ आया है।

शिष्य—आर्य ! आप अन्तर्यामी हैं। हाँ, यह सत्य है, मेरी कुछ कहने की अभिलाषा है। आप मुझे आज्ञा दें, मैं मेरे हृदय की बात आपको कहूँ।

आचार्य—कहो, कहो, सब विकल्पों को छोड़ कर कहो।

शिष्य—प्रभो ! विचित्र है, अति विचित्र है। आप अपने पश्चात् दो आचार्यों को चुनना चाहते हैं ?

आचार्य—(ससम्भ्रम) नहीं, कभी नहीं। भिक्षु-शासन में यह कभी सम्भव नहीं।

शिष्य—देव ! इसीलिए प्रार्थना करता हूँ कि आचार्य-पद के प्रमाण-पत्र में दो नाम क्यों हैं ?

आचार्य—ऐसा नहीं, ऐसा नहीं। इनमें से एक ही गणनायक होगा।

शिष्य—देव ! मैं यही निवेदन कर रहा हूँ कि आप अपनी इच्छा से किसी एक का निश्चय करें।

आचार्य—ये दोनों मामा-भानजे हैं, इसमें सन्देह को क्या बात है ?

शिष्य—आचार्यवर्य ! आपने ठीक किया है। ये दोनों सम्बन्धी हैं, उदारचेता हैं, निःस्पृह हैं—यह सब संतोष का विषय है। किन्तु आप द्वारा किया गया कार्य वार्तमानिक ही नहीं होता, वह सार्वदिक होता है। इसलिए श्रीचरणों में मैं इसी विनीत भावना को रखना चाहता हूँ कि आप दोनों में से किसी एक को अपना उत्तराधिकारी चुनें। आप सूक्ष्मदर्शी हैं, आचार्यवर्य !

शिशु मुनि के अद्भुत साहस, दूरदर्शिता और शासन की हितेच्छा को जानकर आचार्यवर्य का हृदय आनन्द से भर गया। उन्होंने तत्काल अपना उत्तराधिकारी दो में से एक को चुन लिया।

६—आत्मना युध्यस्व

सब्रह्मचारिणः ! अद्यतने समये युद्धस्य विकासः प्राप्तोऽस्ति परमसीमानम्। परितोऽपि नवनवाविष्कारैर्निर्मितानां शस्त्रास्त्राणां ज्वालास्फुलिङ्गा आकाशमण्डलीं लेलिहाना दृश्यन्ते। विद्यन्ते कृतहस्ता अपि शश्वद् विहस्तवसतयः। प्रसार्य पाणिं व्यादाय वदनञ्च नृणां शोणितरसास्वादलम्पटा रणचण्डी समुल्लालयति कपालं तरलयति जिह्वाञ्च। प्रायेण जातऽस्ति शान्तेर्नामशेषोऽपि। संघर्षप्रिया अजनिषत सभ्यनामधारिणोऽपि जनाः। विषमायामस्यां परिस्थितौ विकृते च वातावरणे 'आत्मना युध्यस्व' इति सिद्धान्तस्य कियत्यावश्यकतेति कः कथमुपदिशेत्। निःशेषा अपि जना यदि स्युरात्मविजये प्रयतास्तन्नियतं रचयेदशान्तिरपि निजाननं कृतावगुण्ठनम्।

'विश्वशान्तिसन्देशे' संकेतितमार्यवरैः श्री तुलसीगणिभिरिति—यदि भवन्तो वस्तुवृत्त्या हि शान्तिं मृगयन्ते यद् आत्मयुद्धाय भवतु भवतामभियानम्। एतस्मिन्नक्षवाटे न दृशामातिथ्यं नेष्यति कश्चन सपत्नो जीवधारी, प्रत्युत सर्वत्र प्रसारं लप्स्यते मैत्री। भविष्यति पुष्पिता सौभ्रात्रवल्लरी, परानपकर्तुं विकर्तुं मोषितुं शोषयितुञ्च तावदेव त्वमसि राहुर्यावन्नात्मना योद्धुं भवस्युद्बाहुः। सुविश्रुतमिति गीतमपि। बहुश्रुतैः—

अजितात्मा जिताहवोऽपि प्रत्याशमारं पश्यति विकलाशः, जितात्म दृष्टिर्न विषयीकरोति रिपुमेकमपि, तद्विचारणायां स्फुरत्येष महामन्त्रः—

"सर्वे ते प्रियबान्धवाः,
नहि रिपुरिह कोऽपि।"

६—आत्मा से लड़

साधर्मिकों ! आज इस युग में युद्ध का विकास चरम सीमा को पहुँच चुका है। चारों ओर नव-नव आविष्कारों से निर्मित शस्त्रास्त्रों के ज्वाला-स्फुलिंग आकाश-मण्डल को चट कर रहे हैं। शक्तिशाली मनुष्य भी आज व्याकुल दीख रहे हैं। मानव-रक्त की पिपासु रण-चण्डी अपने हाथों को पसार जिह्वा को तरल कर कपाल को ऊँचा-नीचा कर रही है। शान्ति प्रायः मिट चुकी है। सभ्य कहलाने वाले लोग भी संघर्षप्रिय हो गए हैं। इस विषम परिस्थिति और विकृत वातावरण में 'आत्मा से लड़'—इस सिद्धान्त की कितनी आवश्यकता है, यह कौन कैसे बताएं ? यदि समस्त लोग आत्म-विजय के लिए प्रयत्नशील हों, तब सम्भव है कि अशान्ति अपना मुंह घूंघट में छिपा ले।

विश्व को शान्ति का सन्देश देते हुए आचार्य श्री तुलसी ने यह संकेत किया था कि यदि आप वस्तुतः शान्ति की खोज में हैं तो आत्म-युद्ध के लिए आपका अभियान हो। इस अखाड़े में कोई भी शत्रु नहीं मिलेगा। प्रत्युत सर्वत्र मैत्री का प्रसार होगा। सौभ्रात्र की बेल फूलेगी। जब तक तू आत्मा से लड़ने के लिए अपनी बाहु को नहीं उठायेगा, तब तक तू दूसरों का अपकार करने के लिए, बिगाड़ करने के लिए, दूसरों की संपदा को चुराने के लिए, शोषण करने के लिए, राहु बना रहेगा। बहुश्रुत व्यक्तियों ने यह गाया है—जिसने युद्ध को जीत लिया परन्तु अपनी आत्मा को नहीं जीता, उसे सब दिशाओं में शत्रु ही शत्रु दिखाई देते हैं। जिसने आत्मा को जीत लिया, उसे कहीं भी शत्रु दिखाई नहीं देते। उसका महामंत्र होता है—

"सब तेरे प्रिय बन्धु हैं, शत्रु कोई नहीं।"

१०—शत्रुणा नहि सन्दध्यात्

उचितमिति नीतिकोविदानां वाक्यम्—"नखलु कदापि कथमपि विश्रब्धव्यं रिपुकुले।" शत्रवः शत्रव एव, न च ते स्युः कदाचिदपि सुहृदः। जातेऽपि सुदृढे सन्धौ न ते भवन्ति विश्वसनीयाः। सुतप्तेनापि सलिलेन हुताशनो यदि चिकीर्षेदालिङ्गनम्, अङ्ग ! क्व कुशलं तस्य ? कृशानुकल्पामुष्णतां दधदपि पानीयं पानीयमेव तद्विध्यापनकर्मणि। क्वेदं स्पृशति तनूनपातं तज्जीवितस्य मूल्यमनादाय।

मतिमानपि मानवो न भ्रान्तिमानिति कथं मननीयम् ? आत्मनैकीभूता अपि पुद्गलाः सन्ति खल्वात्मनोऽवश्यं दस्यवः। लुण्टाका एते किं कदा न लुण्टयन्ति तत्सर्वस्वम्। विचित्रो ऽयं व्यामोहः—लोका क्व प्रत्येतुमपि प्रत्यला वपुषा मम पार्थक्यमिति।

देहे देहिनि चाभेदबुद्धिमाधाय न के के जाता जात्यन्धला इव जनाः। किमितः परं वाच्यम्—तनुषोऽर्थं स्वार्थहितमप्युपेक्षन्ते तनुमन्तः। वपुःपोपाय सनातना चकास्ति चिन्ता।

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्",
"वपुषि विचिन्तय परमिहसारं,
शिवसाधनसामर्थ्यमुदारम्।"

इति विदन्तोऽपि कियन्तश्चेष्टन्ते हितं साधयितुमात्मनस्तेन कायेन।

प्राणिनामियं विवेकविकला चेष्टा अन्ते विरूपतया परिणमते। एकस्मिन् दिने निश्चितं बहुलापायो निरुपायः कायो विजिहासुरमुमशरणं जनम्।

"येन सहाश्रयसेति विमोहाद्,
इदमहमित्यविभेदम्।
तदपि शरीरं नियतमधीरं,
त्यजति भवन्तं धृतखेदम्॥"

अतएव भणितिरिति सङ्गतिमङ्गति नीतिनिपुणानाम्—

"शत्रुणा नहि सन्दध्यात्, सुश्लिष्टेनापि सन्धिना।
सुतप्तमपि पानीयं, शमयत्येव पावकम्॥"

१०—शत्रु के साथ सन्धि मत करो

यह नीति-वाक्य बहुत ही उचित है—"शत्रुओं का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।" शत्रु आखिर शत्रु हैं, वे कभी मित्र नहीं बनते। सुदृढ़ सन्धि हो जाने पर भी वे विश्वासयोग्य नहीं बनते। यदि अग्नि सुतप्त पानी का आलिंगन करना चाहें, तो क्या उसका कुशल होगा? अग्नि को बुझाने के लिए पानी पानी ही है, भले फिर वह उसके जैसा ही गरम क्यों न हो जाए। वह अग्नि को बुझाये बिना उसे कब छूता है?

मतिमान् मनुष्य भी भ्रान्त नहीं है, यह कैसे माना जाए। आत्मा से एकीभूत पुद्गल भी आत्मा के शत्रु ही है। ये लुटेरे उसका सर्वस्व कब नहीं लूटते? विचित्र है यह व्यामोह—'मैं शरीर से भिन्न हूँ,' ऐसा विश्वास करने में भी लोग समर्थ कहां हैं?

वे कितने लोग जन्मान्ध नहीं है, जो देह और देही को अभिन्न मानते हैं? और अधिक क्या कहा जाए, लोग शरीर के लिए आत्म-हित की भी उपेक्षा कर लेते हैं। शरीर-पोषण की चिन्ता अनादि है।

'शरीर धर्म का पहला साधन है।'

"शरीर में मोक्ष-साधना का सामर्थ्य है, यही उसका उत्कृष्ट सार है ऐसा तू सोच।"

यह जानते हुए भी इस शरीर से आत्मा का हित साधने के लिए कितने लोग चेष्टा करते हैं?

प्राणियों की शरीर-पोषण की विवेक-विकल चेष्टा का अन्त विरस होता है। यह निश्चित है, एक दिन यह दोषों से भरा-पूरा शरीर इस अशरण जन को छोड़कर चला जाने वाला है।

"जिसके साथ तू मोह के वश होकर—'यह मैं ही हूँ'—ऐसा अभेद मान रहा है, वह अधीर शरीर तुझे छोड़ देगा।"

इसीलिए नीति-निपुण लोगों का यह वाक्य संगत है कि "दृढ़ सन्धि हो जाने पर भी शत्रुओं का विश्वास मत करो। खूब उबला हुआ पानी भी अग्नि को बुझा देता है।"

११—नीरूजा भवंत

यूयं नीरोगतामालिङ्गथ। चकासति मांसलानि युष्माकं वपुंषि, भाथ वृषस्कन्धा विपुलवक्षसश्च। निभाल्यते स्वास्थ्यमपि समुन्नतम्। वलि-विरहितं विभाति चर्मापि। निर्माति यथेष्टं शोणितमपि स्वक्रियाम्। निपुणमस्ति चाकचिक्यमानने। प्रत्यवयवं लसति मूर्तिमती स्फूर्तिः पटूवी च संघटना। तथाप्यहं संदेह्मि युष्मन्नीरोगतायां कुशलकलनायाम्।

आमयाविनोपि यूयं तमामयमुपतापरूपेणाऽनुभवथेत्यत्रापि संशयालु-रहम्।

चतुरचिकित्सका नाड़ीं दृष्ट्वोपरितनैश्चिह्नैर्वाकामं कलयन्ति निदानं गदानाम्। आचार्यवराणां श्री तुलसीगणिनां शब्देष्विमानि तल्लक्षणानि[1]—यस्य कृते निरर्थकायुर्वेदचिकित्सा, निष्क्रिया अजायन्त तन्त्रमन्त्रजटीगुटिका-दयोऽपि, अर्वाचिप्राचिग्रन्थे ग्रन्थरत्ने वा यस्योपशान्तेर्न नाम कोऽप्युपायो-ऽस्ति निर्दिष्टः। सोऽस्ति कश्चिदनिर्वचनीयगरिमा रोगाधिराजः।

अरुजा बुभूषवः! परिजिहीर्षवस्तं स्वास्थ्यमुन्निनीषवश्च यदि यूयं तच्चक्षुषोर्मलमपसार्य निःसार्य च पेञ्जूपं स्वं स्वमात्मानं पश्यत, सोत्कर्षं स्वदौर्बल्यं शृणुत, तल्लक्षाणि मेलयत। यदा स्यात् स आमः स्वयमुपलब्ध-स्तदा स्वयमेव तूष्णींभूय त्यजत। कृतेऽपि महीयसि प्रयासे चेन्नोपलभ्यते, तदाहं प्रकटयाम्यार्यवराणां शब्देष्वेव सोऽस्ति 'ईर्ष्या' परसुखदुर्बलता वा।

१—जे माटै खाटै नहीं, आयुर्वेद इलाज।
तन्त्र-मन्त्र वूंटी-जड़ी, निबड़ी सहु निष्काज॥
नूतन प्राक्तन ग्रंथ में, नहीं जस शमन उपाय।
परसुख दुर्बलता व्यथा, अद्भुत कथा कहाय॥

(कालुयशोविलास)

११—स्वस्थ वनो

तुम नीरोग वनो। तुम्हारा शरीर मांसल है। कंधे उन्नत और वक्ष चौड़ा दीख रहा है। स्वास्थ भी अच्छा प्रतीत हो रहा है। चमड़ी में झुरियां भी नहीं हैं। रक्त भी अपनी क्रिया भली भांति कर रहा है। मुँह पर चमक भी है। प्रत्येक अवयव में स्फूर्ति मूर्त्त हो रही है। शरीर की सघटना सुन्दर है—तो भी मुझे तुम्हारी नीरोगता में सन्देह है।

रोगी होते हुए भी उस रोग की तुम्हें रोग के रूप में अनुभूति होती है—इसमें भी मुझे सन्देह है।

निपुण चिकित्सक नाड़ी देखकर अथवा बाहरी चिह्नों से रोगों का निदान करते हैं।

आचार्य श्री तुलसी के शब्दों में उस रोग के लक्षण ये हैं—"जिसके लिए आयुर्वेद-चिकित्सा निरर्थक है, जिसके लिए तंत्र-मंत्र, जड़ी-बूटी आदि सभी निकम्मे हैं, प्राचीन या अर्वाचीन ग्रन्थों में जिसके उपशमन का उपाय निर्दिष्ट नहीं है, वह अनिर्वचनीय गरिमा वाला रोगाधिराज है।"

यदि तुम नीरोग होना चाहते हो, उस रोग को छोड़ना चाहते हो, स्वास्थ्य को वढ़ाना चाहते हो तो आखो के मल को दूर कर अपनी अपनी आत्मा को देखो, कान का मैल निकाल उल्लास के साथ अपनी दुर्बलता को सुनो और उस रोग के लक्षणों को मिलाओ। यदि तुम उस रोग को स्वयं पकड़ सको तो मौन रहकर उसका त्याग करो। यदि महान् प्रयत्न करने पर भी वह (रोग) नहीं मिलता है तो मैं आचार्यवर्य के शब्दों में उसे प्रकट करूँ कि वह रोग है—'ईर्ष्या'। इसका दूसरा नाम है— 'परसुखदुर्बलता'।

१२—परिणामः

उप्ता एव क्व फलन्ति विष्टपिनः, क्व च पीतमेव पयः पुष्णाति वपुरिति संविदाना अपि मानवा विस्मरन्ति हन्त ! स्वकार्यकाले नियमममुं प्राकृतम्। अन्यायरचनपटवः स्वनामधन्याः केचन समाचीर्याप्यनुचितमशुभमुदर्कमनीक्षमाणा भवन्ति स्वस्थमन्याश्चित्तोन्नतिञ्चावहन्ति, तत्तेपामस्ति जाड्यमेव। न च ते मन्दमतयः किञ्चिदग्रे चक्षुषी क्षेप्तुमप्याकलयन्ति कष्टम्। स्पष्टमिति यस्य कस्यापि कार्यस्य परिणामः प्रादुर्भवति चिरं प्रतीक्षमाण एव।

क्वचिदिति कर्णयोरभ्यागतं भवति, लोलोक्यत इतिवृत्तपृष्ठपरिवर्तनेनापि च। पिता, पितामहः, प्रपितामहश्च विरुद्धमाचरन्ति ; तत्फलमनुभवन्ति पुत्रः, पौत्रः, प्रपौत्रश्च।

कियच्चित्रम्—

"फलं पापस्य नेच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति मानवाः।
फलं धर्मस्य चेच्छन्ति, धर्मं नेच्छन्ति मानवाः॥

प्राणिन् ! सम्बुध्यस्व यादृशं करणं तादृशं भावि वरणम्। कथ्यते लोकेऽपि—यादृश आहारस्तादृशो ह्युद्गारः। दीपस्तमो भुङ्क्ते, उद्गिरति कज्जलञ्च। रसालबीजमेवोत्पादयति रसालं न च कनकबीजम्।

निश्चिनु—अनीदृशस्य परिणामो न भविष्यतीदृशः। कूपखनको न नीचैर्गच्छेदिति कुतः ? गृहघटकस्य ऊर्ध्वगमनं नास्वाभाविकम्। इति कृत्वा सति कार्ये मतिराधेया, दुष्प्रवृत्त्या विरमणीयम्। चेन्नैतदभिलषितं तदा दुश्चेष्टितस्य तथाभूतं सुदूरमदूरं वा फलमपि विलोकितुं भवेदुत्कन्धरः। *कथितमपि कोविदैः—"कृतस्य कर्मणो नूनं परिणामो भविष्यति"।*

१२—परिणाम

बीज बोते ही वृक्ष नहीं उग जाते, दूध पीते ही शरीर पुष्ट नहीं हो जाता—यह जानते हुए भी मनुष्य अपने कार्य-काल में इस प्राकृतिक नियम को भूल जाते हैं। कई अन्याय करने में निपुण व्यक्ति अनुचित आचरण कर उसके अशुभ परिणाम को नहीं देखते। वे अपने आपको सही मानते हुए गर्व करते हैं। यह उनकी जड़ता ही है। वे मन्द बुद्धि कुछ आगे देखने का कष्ट ही नहीं करते। यह स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्य का परिणाम चिर प्रतीक्षा के बाद ही होता है।

कहीं यह सुनते है और इतिहास के पन्नों को उलटते हुए देखते हैं—पिता, पितामह या प्रपितामह के किए हुए विरुद्ध आचरणों का परिणाम पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र अनुभव करते हैं।

कितना आश्चर्य !!

मनुष्य पाप का फल नहीं चाहते परन्तु पाप करते हैं। मनुष्य धर्म का फल चाहते हैं, परन्तु धर्म करना नहीं चाहते। हे प्राणिन् ! यह तू भली भांति समझ ले कि जैसा तू करेगा, वैसा ही तुझे भरना पड़ेगा। लोक में भी कहा जाता है कि 'जैसा आहार वैसी ही डकार'। दीपक अन्धकार को निगलता है और कज्जल फेंकता है। आम का बीज ही आम उपरत करता है, धतूरे का बीज नहीं।

तू निश्चय कर—जो ऐसा नहीं है, उसका परिणाम ऐसा नहीं होता। कुआं खोदने वाला नीचे न जाए, यह कैसे हो सकता है। प्रासाद बनाने वाले का ऊँचा जाना अस्वाभाविक नहीं है। यह जानकर शुभ कार्यों में बुद्धि को स्थिर करना चाहिए। दुष्प्रवृत्तियों से उपरत होना चाहिए। यदि यह करना नहीं चाहते तो अभी या बाद में अपनी बुरी चेष्टाओं का तथारूप फल पाने के लिए तैयार रहो। विद्वानों ने कहा भी है—"किए हुए कार्य का परिणाम निश्चित ही होगा।"

१३—बलाद् वपुः प्राप्यं न तु हृदयम्

सामर्थ्यं त्रिलोक्यामपि प्रार्थनीयं यदि तद् भवेदगर्हितं नम्रतागर्भितञ्च। खलस्य शक्तिः परपरिपीडनाय, साधोश्च रक्षणायेति विदितमस्ति नीतिवाचापि।

साधवः! यूयं तेषां भिक्षुस्वामिप्रभृतीनां परहिताय प्रयुक्तबलानामाचार्याणां शिष्याः स्थ, अनुगामिनः स्थ, तादृशं सामर्थ्यं युष्माकं कदापि न शोभते, यत् स्यात् परपीडकम्।

धिक् तां शक्तिम्, या करोति परहितप्रहाणम्। धिक् तद् बलम्, यद् अनलचक्रवालमिव प्लोषति परसुखानि।

उन्मुखीभूय निरीक्षणीयं क्षणम्, त एव तनुमन्तः शं समश्नुवते, ये मन्वतेऽन्यकष्टं स्वकष्टमिव, स्पष्टं परोन्नतिं च स्वीयामिव, आवहन्ति परहितेषु परमांमुदञ्च। उदञ्चितपाणयो गगनमण्डलीमास्फालयन्तोऽभ्रंलिहदृष्टयो ये हि अवरानधरयितुं उत्कण्ठन्ते, तैः सर्वतोऽधिकं प्राप्यमवहेलनम्, यथा कथञ्चिच्छरीरमपि, न तु हृदयम्। तत्तु अति विचित्रम्-यद् हृदयजिघृक्षायामपि पवित्रं सौहार्दमपहाय लवित्रं प्रयुञ्जते कतिचन जनाः। धन्याशया महर्षयः। प्रशंसामि युष्माकमशेषाशंसाविरहितं सौजन्यम्, यदस्ति जगतीतले दुरापम्। सकलाजन्यप्रमथनं निर्व्यथनं युष्मच्चेतः सारल्यमेव सार्थकीकरिष्यति सुमनोभिलषितानि कल्याणरसितानि स्वपरहितानि।

१३—शक्ति से शरीर प्राप्य है, हृदय नहीं

सामर्थ्य तीनों लोक में प्रार्थनीय है, यदि वह अगर्हित और नम्रता युक्त हो। 'दुष्ट व्यक्ति की शक्ति दूसरों को सताने के लिए होती है और सज्जन की शक्ति रक्षा के लिए'—यह नीतिवाक्य सुप्रसिद्ध है।

साधुओं ! तुम उन भिक्षु स्वामी आदि आचार्य, जिनकी शक्ति दूसरों के हित मे लगी रहती थी, के शिष्य हो, उनका अनुगमन करते हो। तुम्हारा वह सामर्थ्य कभी शोभा नही देता, जो दूसरो को पीड़ा दे। उस शक्ति को धिक्कार है, जो दूसरों के हितों को कुचले। उस बल को धिक्कार है, जो अग्नि की तरह दूसरों के सुखों को जला दे।

क्षण भर के लिए देखो, वे ही मनुष्य सुखी होते है, जो दूसरों के कष्ट को अपना कष्ट मानते हैं, दूसरों की उन्नति को अपनी उन्नति मानते है और दूसरों के हितों में मुदित रहते हैं। अपनी बाहुओं से आकाश को प्रकंपित करते हुए, दृष्टि को आकाश पर गड़ाए हुए जो लोग दूसरों को नीचा करना चाहते है, उन्हें सबसे अधिक मात्रा में अवहेलना प्राप्त होती है। जिस किसी प्रकार से शरीर प्राप्त हो सकता है किन्तु हृदय उन्हें कभी नहीं मिलता। यह तो और अधिक विचित्र है कि कई लोग हृदय को पाने के लिए पवित्र सौहार्द को छोड़कर शत्रुभाव का प्रयोग करते है।

महर्षिगण ! मैं आपकी समस्त कामना रहित सुजनता की प्रशंसा करता हूँ। ऐसा सौजन्य ससार में दुर्लभ है। समस्त आपदाओं को मथ डालने वाली आपके पवित्र चित्त की सरलता स्व-पर हित की कल्याणमय अभिलाषा को सहज रूप से सफल बनाएगी।

१४—पूजार्थी न स्यात्

संसारे सन्ति संख्यातीतानि तानि प्रलोभनानि, येषु मुह्यन्ति मनीषि-विशेषका अपि। किन्तु तत्रापि यादृग् महत्त्वमस्ति पूजार्थितायास्तादृग् नान्येषां केषांचिदपि दृश्यते कस्यां-चिदपि दिशि। न जाने केयं शक्तिरत्र, यत्र स्निह्यन्ति सन्तोऽपि, नह्यन्ति नीतिनिपुणा अपि, पुष्यन्ति पण्डिता अपि, साधारणास्तु तत् पद्रेणुकणे गृद्ध्यन्ति, लुभ्यन्ति, क्षुभ्यन्ति, लुठन्ति च।

ह हा !! यत्र नास्ति कोऽपि बुभुक्षोपशमः, न च पिपासाप्रशमः, न भवेत् मांसलःकायः, नापि कंदलयति कापि सम्पत्। बत! तथापि यशःकामिता स्वामितया अधरीकरोति निखिलमपि जगत्, तुन्दिलयति मायाम्, पल्लवयति कोपम्, अंकुरयति लालसाम्, विकचयति मानम्, अलसयति सद्भावनाम्, विरसयति साधुताम्, सरसयति शल्यम्, कुञ्जयति कलुषताम्। कस्तामाद्रियेत विरतचेताः तपस्वी, या मुष्णाति यशस्विनामपि निष्णातताभिति विवृणोति शास्त्रवाणी तामित्थम्—

"पूयणट्ठा जसोकामी, माणसंमाणकामए।
बहुं पसवइ पावं, माया सल्लं च कुव्वई॥"

इति सुधियः! अचिरं विरमन्तु एतत् पुस्तिकापृष्ठपठनतः, उपासताञ्च कुलिशकठिनामपि समतापद्धतिम्।

१४—पूजार्थी मत बनो

संसार में असंख्य प्रलोभन हैं। महर्षि-मूर्धन्य भी उनमें मूढ़ हो जाते हैं। किन्तु वहाँ भी जैसा महत्त्व पूजार्थिता का है, वैसा कहीं भी किसी दूसरी वस्तु का नहीं दीखता। पता नहीं, इसमें ऐसी कौन सी शक्ति है; जहाँ सन्त भी आसक्त हो जाते हैं, नीतिकुशल व्यक्ति भी बंध जाते हैं, पंडित भी फूल जाते हैं, साधारण लोग तो उसकी चरण-धूलि में गृद्ध हो जाते हैं, लुब्ध हो जाते हैं, क्षुब्ध हो जाते हैं और लुठते रहते है।

जिससे भूख नहीं मिटती, प्यास नहीं बुझती, शरीर मासल नहीं होता और सम्पदा अंकुरित नहीं होती, हाय ! फिर भी वह यश की कामना समूचे संसार को नीचे ले जा रही है। उससे माया बढ़ती है, कोप पल्लवित होता है, लालसा अंकुरित होती है, मान विकस्वर होता है, सद्भावना अलसा जाती है, साधुता विरस हो जाती है, शल्य सरस हो जाता है और कलुषता छा जाती है। कौन विरक्त तपस्वी उसे (पूजार्थिता को) आदर दे, जो यशस्वी व्यक्तियों की भी निपुणता को चुरा लेती है।

यह शास्त्र-वाणी है—'जो पूजार्थी है, यश का कामी है, मान-सम्मान की आकांक्षा रखता है, वह बहुत से पापों को जन्म देता है, मायारूप शल्य करता है।'

बुद्धिमान् व्यक्तियों ! यशः कामना की पुस्तक के पृष्ठों को पढ़ना छोड़ो और समता-पद्धति, जो वज्र से भी कठोर है, की उपासना करो।

१५—अनुशासनम्

अनुशासनमेव संघस्य प्राणाः। अननुशासिताः संघा नातिरिच्यन्ते चेतनविरहितैरङ्गैः। हितमनुशासनमवगणयन्ति ये मन्दमतयः, कुटिलगतयः, ते किन्नाम मानवगणनायामपि प्रविविक्षवः, अलं दनुजाः। नहि क्व नु जायन्ते तादृशाः परवशाः पशव इव व्यतिवाहयितुमपार्थकं जीवितव्यम्। नेति नव्यम्, श्रव्यं युष्माभिरागमपंक्तावपि—

"अणुसासणमोचायं दुक्कडस्स य चोयणं।
हियं तं मन्नई पण्णो, वेसं होइ असाहुणो ॥"

परुषमपि निदेशं गणनेतुर्नावमन्येत रुषा क्वचनापि मतिमान्। प्रापणीया प्रतीतिर्हृदयम्—या प्रोन्नतिः तेरापन्थस्य दरीदृश्यते, दृशि-दृशि, दिशि-दिशि, विशि-विशि, त्विषि-त्विषि सा आदेशमननप्रभावादेवेति जोषं जोपमुद्घोषयितुमुच्चघोषैरर्हामो वयम्। श्रीभिक्षुस्वामिनो जयाचार्याः, किमाभ्याम्, सर्वेऽप्याचार्याः सर्वतोऽधिकं शासनमेव द्रढयामासुर्द्रढयन्ति च साम्प्रतमपि।

उच्छृङ्खलोल्लण्ठोद्दण्डबहुलता न क्वापि संघशासने हितावहा। अत एवादिष्टमिष्टभावनया प्रथममुनिपेन—यो मुनिराज्ञां तिरस्कुर्यात्, स तत्क्षणमेव बहिष्कार्यो गणात्। किन्नाम तदब्जं यन्न सत्कुर्वीत भास्वन्तमपि? किं कुमुदबान्धवमपि कुमुदं न पश्येत् प्रेम्णा? किं चातककिशोरा अपि उपेक्षेरन्नम्बुवाहम्? किं मयूराणामपि केका न सभाजयेद् बलाहकस्वनितम्? इतो विलोकन्ताम्, ततो विलोकन्ताम्, कुतोऽपि विलोकन्ताम्, यत्र नास्ति सुखदानुशिष्टिस्तत्र सृष्टिरवगुणानाम्, वृष्टिः पातकानाम्, परिव्रढिमा कलहानाम्, द्रढिमा विपदाम् ह्रसिमा सम्पदाम्, वर्षिमा च विवेकस्य। कस्य सुखमुज्जृम्भितमनुशासनमन्तरा?

१५—अनुशासन

अनुशासन ही संघ का प्राण है। अनुशासन हीन संघों का मूल्य चेतनाहीन अंगों से अधिक नहीं है। मति को मंद और गति को कुटिल रखते हुए जो हितकर अनुशासन की अवगणना करते हैं, क्या वे मनुष्यों की गणना में प्रवेश पाने के इच्छुक हैं ? नहीं ! नहीं ! वे दानव हैं। वैसे व्यक्ति पशुओं की तरह अर्थहीन जीवन बिताने के लिए क्या परवश नहीं होते ? इसमें नया कुछ नहीं है, आगम की पंक्तियों में लिखा है—

"गुरु का अनुशासन, उनके बताए हुए उपाय और दुष्कृत्यों के प्रति उनका तिरस्कार—ये बातें प्राज्ञ पुरुष हितकारी मानता है, परन्तु असाधु पुरुष उनसे द्वेष करता है।"

बुद्धिमान् शिष्य अपने गणनायक के कठोर आदेश पर क्रुद्ध हो, उसकी अवहेलना नहीं करता। विश्वास करो—इसकी हम उच्च स्वर से उद्घोषणा कर सकते हैं कि तेरापंथ-शासन का जो सर्वाङ्गीण विकास दीख रहा है, जिसका दृष्टि-दृष्टि में दिशा-दिशा में मनुष्य-मनुष्य से और रश्मि-रश्मि में दर्शन हो रहा है, उसका एकमात्र कारण है गुरु की आज्ञा का पालन। भिक्षु स्वामी और जयाचार्य ने, इन्हीं ने क्या सभी आचार्यों ने सबसे अधिक शासन को दृढ़ किया और कर रहे हैं। किसी संघ के अनुशासन में उच्छृंखलता, उल्लंठता, उद्दण्डता आदि हितकर नहीं होते। इसीलिए प्रथम आचार्य (श्री भिक्षुस्वामी) ने मधुर भाव से आदेश दिया—"जो मुनि आचार्य की आज्ञा का तिरस्कार करे, उसे तत्काल गण से वहिष्कृत कर दिया जाए।" वह कमल ही क्या, जो सूर्य का भी सत्कार न करे। क्या कुमुद चन्द्रमा को भी प्रेम से न देखे ? क्या चातक के किशोर भी मेघ की उपेक्षा करे ? क्या मयूरों की केका मेघ के गर्जन का स्वागत न करे ? इधर देखो, उधर देखो, कहीं भी देखो, जहाँ सुखद अनुशासन नहीं, वहाँ अवगुणों की सृष्टि होने लगती है, पाप बरसते हैं, कलह बढ़ते हैं, विपदाएं दृढ होती हैं, सम्पदाओं का ह्रास होता है और विवेक बूढ़ा हो जाता है। अनुशासन के बिना सुख किसने पाया !!

१६—हेमन्तः

आगतो हेमन्तः । सन्तो जपन्ति जागरिताः परमात्मानम् । अजनिषत मन्दातपानि विवस्वतो महांसि परमयोगिनां वीतकोपानि मनांसीव । दुर्जनानामवगुणततय इव सुविपुलमूर्त्तयः संवृत्ता निशीथिन्यः । कपटनाटककोटिघटनपटीयसां विचारितमिव शीतं प्रतीतमशेषैरपि भीतिजनकम् । वाग्विशृङ्खलवृत्त्या वाचालितनिःशेषदिङ्मुखानां वाचालानां वाग्विसरेण सुजनसंकल्प इव पंकिलं समजनि हिमेन सकलभूतलम् । चिररात्राय साधितसंयमैस्तपस्विभिरिव समुद्गसितैर्हिमवातापहांशुकैश्चीवरैराप्ता मुक्तिः । विद्विषो क्रुधिव दिवानक्तमपेक्षिता उपधानसन्निधानं क्वचिदङ्गारधानी धनिवरेण । प्रियवस्तुनोऽवाप्तिसुहिता जना इवाभूवन् शीतला सैकतकणा अणीयांसोपि । सोऽपि सर्वैः समुन्नीयते, उपचीयते वियति विततशिखेन धूमध्वजतापेनापि य आह्लादः प्रासादवासिनाम्, शिशूनामिव सुजनताऽनेन पार्ष्णिप्रहारनिपुणेन । अदृष्ट वहिराकाशा अस्पृष्ट-द्वारदेशा अपवरककोणा अजायन्त गुणैर्विनीता इव जनै-राकीर्णाः । विद्याभिः स्तब्धा इव त्यक्ता वातायनाः पक्ष्मलाक्षीभिः । अमिलन् सुहृदामन्तःकरणानीव कपाट युगलानि । साक्षात् संतापविलयो धनात्ययस्य सुकृतिनः पापप्रलय इव विलोकितः प्रसले जनैः ।

१६—हेमन्त

हेमन्त आ गया। सन्त जागृत हो परमात्मा को जपते है। सूर्य की किरणें परम योगियों के कोपरहित चित्त की तरह, मन्द आतप वाली हो गई है। रात्रियां दुर्जनों की अवगुण पंक्तियों की तरह बहुत ही लम्बी हो गई हैं। कपट का नाटक खेलने में पटु व्यक्तियों के विचार की तरह सभी ने भयंकर शीत का अनुभव किया है। वाणी की उच्छृंखलता से सब दिशाओं को वाचाल बनाने वाले व्यक्तियों की वाणी के प्रसार से सुजनों के संकल्पों की तरह सारा भूतल हिम से पंकिल हो गया। जैसे चिरकाल तक संयम की आराधना करने वाले तपस्वी साधक मुक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार चिरकाल से पेटियों में बन्द "रजाइया" भी उन्मुक्त हो गईं। शत्रु जैसे क्रोध की अपेक्षा करता है, वैसे ही धनी लोग सिरहाने के समीप अंगीठी की अपेक्षा करने लगे। छोटे-छोटे सिकता-कण भी प्रिय वस्तु की प्राप्ति से तृप्त होने वाले व्यक्तियों की भांति शीतल हो गए। शिशुओं की एड़ी की चोट और ताड़ना से जैसे सुजन व्यक्तियों को आह्लाद होता है, वैसे ही आकाश में विस्तीर्ण शिखावाली अग्नि के ताप से प्रासादवासी व्यक्तियों को जो आह्लाद् हो रहा था, उसे सभी लोग जानते हैं और समर्थन देते है। जो आकाश को नहीं देख पा रहे थे, द्वार देश को नहीं छू पा रहे थे, कोठों के वे कोने इस प्रकार लोगों से भर गए जैसे—व्यक्ति विनीत गुणों से भर जाता है। रमणियों ने गवाक्षों को वैसे छोड़ दिया, जैसे विद्यास्तब्ध व्यक्ति को छोड़ देती है। मित्रों के मन जैसे मिलते हैं, वैसे ही कपाट-युगल मिल गए। शरद् ऋतु की कड़ी धूप वैसे ही विलीन हो गई, जैसे पुण्यशाली का पाप विलीन हो जाता है। हेमन्त ऋतु में यह सब लोगों ने देखा—।

१७—स्वार्थ-विडम्बना

इतो दृष्टम्, ततो दृष्टम्, उपरि दृष्टम्, नीचैर्दृष्टम्, सर्वतो दृष्टम्, अन्ततो दृष्टं स्वार्थ विलसितमेव! किं वच्मि? किमु श्रावयामि, अहं जानामि यूयं मम सुहृदः, परन्तु मम पार्श्वे तादृशं किमपि नास्ति, यत् निःस्वार्थवृत्त्या प्राप्तं स्यात्। किमुपहरामि युष्मभ्यम्? सभ्या यूयं वित्थ एव—इयं जडा तनुरपि मम न स्वार्थं विजिहासुः, तदानीं विचार-शीलं मनस्तु तं विजह्यादेव कथम्? कां कथयामि कथाम्, यूयं वयं वयं यूयमिति विचारवेलानुल्लासयन्तोऽपि स्वार्थ-विघटने यूयं यूयं वयं वयमित्याचक्षाणाः प्रत्यक्षं वीक्षिताः, किमतः परमपि किमपि उदाहरणमुपलिप्सवः।

हन्त! खिन्नं भवति मानसं दर्शं दर्शं स्वार्थराज्य-घटितानि। यत्र विवेकिनामपि विवेको भवति शतखण्डः। विचारकाणामपि विचारा भवन्ति प्राप्तप्रहाराः। मतिमतां मतिरपि भवति अधोगतिः। आतुरा भवति चतुराणां चातुरी। वन्ध्या भवति धार्मिकाणां सन्ध्या। क्वचित् पलायते प्रेम। नश्यति परिचयः। कबन्धा भवन्ति सम्बन्धाः। वार्दले सलिलमिव समुद्भवति मनसि मालिन्यम्। बिलेशयेषु हालाहल इव क्षरति मुखेषु गालि-सन्दोहः। कियल्लिखामि—यद् यद् असंभाव्यम्, तत् सकलमपि सुतरां भवति स्वार्थ-साधनायाम्।

१७—स्वार्थ-विडम्बना

इधर देखा, उधर देखा, ऊपर देखा, नीचे देखा, चारों ओर देखा। आखिर सर्वत्र स्वार्थ का साम्राज्य ही दीखा। क्या कहूँ? क्या सुनाऊँ? मैं जानता हूँ, तुम मेरे मित्र हो। परन्तु मेरे पास ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो निःस्वार्थ वृत्ति से प्राप्त हो सके। मैं तुम्हें क्या उपहार करूँ। तुम सभ्य हो, यह जानते ही हो कि मेरा जड़ शरीर भी स्वार्थ को छोड़ना नहीं चाहता। तब भला विचारशील मन उसे कैसे छोड़े? इसकी क्या कथा कहूँ? 'तुम हम' और 'हम तुम' जिनमें इन विचारों का ज्वार होता है, वे भी स्वार्थ-विघटन के समय 'तुम तुम' और 'हम हम' ऐसा करते हुए देखे गए हैं। स्वार्थपरता का इससे उत्कृष्ट उदाहरण और क्या हो सकता है?

हन्त! स्वार्थ की घटनाओं को देख देखकर मन खिन्न हो जाता है। स्वार्थ की छाया में विवेकी मनुष्यों का विवेक भी टूक टूक हो जाता है, विचारकों के विचार भी प्रहार से क्षत-विक्षत हो जाते है, बुद्धिमानों की बुद्धि का भी पतन हो जाता है, चतुर व्यक्तियों की चातुरी व्याकुल हो उठती है, धार्मिकों की पूजा-सन्ध्या विफल हो जाती है, प्रेम कहीं पलायन कर जाता है, परिचय नष्ट हो जाता है, सारे सम्बन्धों का शिर टूट जाता है। मन में मलिनता व्याप्त हो जाती है, जैसे—बादलों में पानी। मुँह से गालियां झरने लगती है—जैसे सापों के मुँह से विष। कितना लिखूं, जिसकी सम्भावना नही की जा सकती, स्वार्थ-साधना में वह सब सम्भव वन जाता है।

१८—आत्मदमनम्

असौ वसुधा खलु वसुन्धरा। विराजन्तेऽस्या-मनेके ग्रामाधीशाः जनाधीशाः, राजनः, महाराजाः सम्राजश्च। नियच्छन्ति ते समानत्रमनस्कं क्षोणि-मण्डलम्, बहन्ति च प्रतिवचनं पाणौ वा दमनकुशलं दण्डम्, नियमयन्ति अशेषस्यापि जगतो मनांसि, (मनोऽभिकाङ्क्षितानि) वचांसि, वपूंपि (कायचेष्टितानि) चापि अतुलबलमुद्धरन्तः। सुलभमेतत्। सुकरं येन केनापि। सुशकं यत्र कुत्रापि। किन्तु ये महापुरुपाः स्वं स्वमात्मानं दमितुं बलमासादितवन्तः, प्रयुक्तवन्तः, साफल्यं च लब्धवन्तः, ते हि सुकृति शेखराः सनाथयन्ति स्वसामर्थ्यम्। एतदेव जगति दुर्लभं दुष्करं दुःशकं दुर्बोधं वा विबुद्धं विबुधमूर्धन्यैर्धन्यैः। तथाहि निपुणमुपदिदेश भगवान् महावीरः—

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होई, अस्सिं लोए परत्थय

आत्मदमितारो नहि परान् नियन्तुमुत्सहेरन् क्वचित्। नोत्ताम्यन्ति ऊर्ध्ववाहवोऽहमहमिकया असुखयितुमितरान्। हृदयालवो विदन्ति ते तत्त्वमिदमथ—

"न तं अरिकंठ छेत्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।"

जागरितं भवति येषां हृदि एतादृशं विशदं वेदनम्, ते कियन्तो महान्तः, इति नोपमातुमुपमापि कश्चिल्लभ्यो लब्धवर्णैः। कृतेऽप्यहिते न क्लाम्यन्ति, इष्टविघाते न श्राम्यन्ति, समागते परीपहे नेतस्ततो भ्राम्यन्ति, आचमन्ति समताम्, लिहन्ति शान्तसुधाम्, दहन्ति स्वदुश्चरितघासम्, विदधते दुर्भावनापनाशम्, सञ्चिन्वन्ति सुकृतम्, प्रहिणुवन्ति विकृतिम्, ते हि महात्मनो नितान्तमिति चरितार्थयितुं क्षमेरन्—

"लाभालाभे सुहे दुक्खे,
जीविए मरणे तहा।
समो निंदा पसंसासु,
तहा माणवमाणओ॥"

१८—आत्म-दमन

यह भूमि वसुन्धरा है। इसमें अनेक ग्राम-नायक, जन-नायक, राजा-महाराजा और सम्राट् रहते हैं। वे सभी भूमण्डल के साथ साथ मनुष्यों के मन पर भी नियत्रण करते हैं। उनके प्रत्येक वचन और हाथ मे, दमन कुशल मे कुशल, डडा होता है। वे अपनी अपार शक्ति से समस्त जगत् के मन, वाणी और शरीर का नियमन करते हैं। यह सुलभ है। हर एक व्यक्ति के लिए सुकर है। यह जहाँ कहीं भी किया जा सकता है किन्तु जिन जिन महान् व्यक्तियो ने अपनी अपनी आत्मा का दमन करने के लिए शक्ति का अर्जन और उसका प्रयोग किया है और ऐसा करने मे जिन्हे सफलता मिली है, वे भाग्यशाली लोग ही अपने सामर्थ्य को सार्थक कर रहे हैं। इस जगत् मे यही दुर्लभ, दुष्कर, दुःशक्य एवं दुर्बोध है—ऐसा ज्ञानियों ने अनुभव किया है। भगवान् महावीर का उपदेश है—"आत्मा का ही दमन करना चाहिए, आत्मा ही दुदर्म है। आत्मा का दमन करने वाला ही इस लोक और परलोक में सुखी हो सकता है।"

आत्म-दमन करने वाले कही भी दूसरों को नियंत्रित करना नही चाहते। दूसरों को दुःखी करने के लिए वे कभी उतावले होकर अपनी भुजाओं को नहीं उछालते। वे हृदयालु व्यक्ति यह तत्त्व जानते है कि "कठछेद करने वाला शत्रु भी वह अनर्थ नहीं करता, जो असंयत दुष्टात्मा करता है।"

जिनके हृदय में ऐसा विशद-ज्ञान उद्बुद्ध रहता है, वे कितने महान् है, उनको उपमित करने के लिए विद्वानों के पास कोई उपमा नही है। जो अहित किये जाने पर भी क्लान्त नही होते, ईष्ट का विघात होने पर भी श्रान्त नही होते, परीषह आने पर विचलित नही होते, समता का आचमन करते है, शान्त-सुधा का पान करते हैं, अपने दुश्चरित्र रूपी घास को जला डालते है, दुर्भावना को दूर कर देते हैं, सुकृत का संचय करते हैं, विकृति को छोड़ देते है—वे ही महात्मा "लाभ-अलाभ, सुख-दु.ख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान मे सम रहना चाहिए" इसे चरितार्थ करने में नितान्त समर्थ होते है।

१६—उद्वेलनम्

परान् वञ्चयितुमर्हामि, चतुरानपि चार्हामि विप्रतारयितुम्, परं नार्हामि विप्रलब्धुमात्मानम्। कदा केन विप्रतारितमन्तर्मनः? येन यद् दुराचीर्णं तेन तद् भुक्तमेव अन्तर्मनःसाक्ष्येण।

अहो! अभिनवं मानवमतिविलसितम्। अश्लाघनीय-कार्यकरणे न भवति तनुरपि संकोचः तस्याऽश्लाघा-श्रवणवेलयां स्विन्नं भवति गात्रम्, खिन्नं भवति मनः, कोपाध्माता च हृदयस्थली।

१६—उद्वेलन

मैं दूसरों को ठग सकता हूँ, चतुर व्यक्तियों को ठगने की भी मुझमें क्षमता है, परन्तु अपनी आत्मा को नहीं ठग सकता। अन्तर्मन को कौन, कब ठग पाया? जिसने जो दुष्प्रवृत्ति की, उसने उसका फल अन्तर्मन की साक्षी से भोगा ही है।

आश्चर्य! यह मानव की वुद्धि की विडम्बना है—निन्दनीय कार्य करने मे उसे तनिक भी सकोच नही होता पर अपनी निन्दा सुनते समय उसक: शरीर पसीने से तर हो जाता है, मन खिन्न हो जाता है और हृदय क्रोध के मारे फुफकार उठता है।

यावन्नीचैः पश्यामि, तावद् विशालकलेवरो विभायाम्। यदा च पश्यामि किञ्चिदूर्ध्वम्, तदा असीमनि गगने विलीना भवति मम विशालता।

विचित्रा खलु मानवमतेर्व्यायामविधयः, स्वोन्नतं निर्वर्ण्य उपशमयति कश्चिदवलेपम्, कश्चित् पुनर्भवति सेर्ष्यः। स्वीहीनावलोकेपि कोपि सद्यः स्यादुन्मत्तः स्याच्च कश्चन दयालुः।

यद् दर्शनीयम्, न स्फुरति तत्र दृष्टिः, यद् अदृश्यम्, तत्र साभियोगा च सा। हा! कोऽयं विपर्ययः? आत्मदर्शेपि स्वमेव पश्यति लोकः। कदा केन तत् स्वच्छतां प्रतिध्यातमीपदपि।

स्वगुणावलिं पश्यन्नन्धो भवति मानवः। न तदा तेन दृश्यते कोपि तादृग् अपरः। परेण स्वावगुण-प्रकाशनसमये च दिव्याञ्जनाञ्जितं भवति चक्षुः यतो महद्महत्तरा अवगुणिनः अवतरन्ति दृष्टि-सरणिम्। कथं वृणीयुर्विकासं गुणाः, ह्रसिमानञ्च भजेयुरवगुणाः?

तिरस्कारसहनक्षमतां प्राप्नुवन्तु। तस्यामन्तर्हितमस्ति गुरुत्वम्। सत्कारं के न स्वीकुर्युः सप्रसादम्। परं कोऽनेन समजनि गुरुरद्यापि।

महान् भवितुमभिलष मा। तादृग्विधं कार्यं रचय। महत्त्वं नास्ति अभिलाषायाम्। तद् वसति कार्येषु। तदभिलाषा सदोषा। तदुचितकार्यकरणं महान् गुणः।

यदिच्छसि प्रसारयितुम्, तन् पूर्वं प्रसारय आत्मनि आत्मीयेषु वा, अन्यथा तद् भविष्यति सन्देहकारणं सुतरां परेषु।

दीनानां दैन्यमालोक्य दीना न स्युरिति कियन्तः, परं ते विरलाः, ये दीनान् उद्धरेयुः।

गमिष्यसि तद् भविष्यति चरणोऽङ्कितो रेणौ, परं तथा व्रज यतश्चरणश्चिह्नमनुकर्तुं लुभ्येज्जनः।

जितना नीचे देखता हूँ, अपने आपमे उतना ही विशाल लगता हूँ। जव थोड़ा ऊपर देखता हूँ तो मेरी विशालता इस असीम गगन मे विलीन हो जाती है।

मानवीय वुद्धि-व्यायामों के प्रकार वहुत ही विचित्र है। अपने से उन्नत व्यक्ति को देखकर कोई अपने गर्व को उपशान्त करता है तो कोई ईर्ष्यालु हो जाता है। अपने से हीन व्यक्ति को देखकर कोई उन्मत्त हो जाता है तो कोई पसीज जाता है।

जिसे देखना चाहिए वहाँ दृष्टि नही जाती, जिसे नही देखना चाहिए वहाँ देखने का प्रयत्न होता है। हा! यह कैसा विपर्यय! दर्पण में मनुष्य अपने आपको ही देखता है। कव किसने तनिक भी उसकी स्वच्छता को देखा?

मनुष्य अपने गुणों को देखता हुआ अन्धा हो जाता है। उस समय उसे अपने जैसा दूसरा कोई नहीं दिखता। दूसरे के द्वारा अपनी खामियां वताए जाने पर उसकी आखे दिव्य-अंजन से आंजी हुई सी हो जाती हैं, जिससे कि उसे अपने से वड़े-वड़े अवगुण दीखने लग जाते हैं। अव गुणों का विकास कैसे हो और कैसे अवगुण घटें?

तिरस्कार सहने की क्षमता प्राप्त करो। उसके गर्भ मे गुरुता निहित है। सत्कार को कौन प्रसन्नता से स्वीकार नही करते? परन्तु आज तक भी इससे कौन वड़ा वना है?

महान् वनने को अभिलाषा मत रख। महान् वनने योग्य कार्य कर। महानता अभिलाषा मे नहीं रहती, वह कार्य मे है। उसकी अभिलाषा करना दोष है और महानता के योग्य कार्य करना महान् गुण।

जिसका तू प्रसार करना चाहता है उसका सवसे पहले अपने आप में अथवा आत्मीय व्यक्तियों मे प्रसार कर। अन्यथा दूसरों के लिए वह सहज ही सदेह का कारण वन जाएगा।

दीन व्यक्तियों को देखकर दीन नही होने वाले कितने है? परन्तु वे विरले हैं जो दोनों का उद्धार करे।

तू चलेगा तो तेरे चरण धूल मे चिह्नित होंगे परन्तु ऐसे चल कि लोग तेरे चरण-चिह्नो के पीछे चलने के लिए लालायित हों।

२० क्रोधमसत्यं कुर्यात्

आत्मन् ! कुप्यसि, मुहुर्मुहुः कुप्यसि । स्वस्मै कुप्यसि, परस्मै कुप्यसि, अहितेभ्यः कुप्यसि, हितेभ्यः कुप्यसि, मित्रेभ्यः कुप्यसि, शत्रुभ्यश्चाप्यलं कुप्यसि ।

अहह ! समारोपोऽयं कृतसुकृतलोपस्य कोपस्य। नावगुणाय क्रुध्यसि न च कुहेवाकायाऽपि । यदि कोपकरणमेव तव रोचनम्, भवतु । मन्ये—त्वं शोचसि कथमहं प्रकृत्याऽ। बद्धः प्रत्याख्यामि कोपनम् ।

भद्र ! शुचं मुञ्च, किमनया चिन्तया, विजिहासुरसि, न त्यक्तुमीशिषे स्यादेवेति।

परमीक्षस्व आत्मन् ! असावधानता त्वय्यपि चकास्ति। क्षतयोऽपि त्वामनुवर्तन्ते । सन्देहोऽपि त्वयि समुज्जीवति । त्वं मुह्यस्यपि । वक्षि परापवादान् । नापि दिदृक्षसि परौन्नत्यम् । न च द्रष्टुं शक्यसि परहितानि । तत् सर्वमाचरसि, यदर्थमाक्रोशसि परान् । तान् सर्वानवगुणान् निपुणमर्वसि, यानभिज्ञाय परानवजानासि । अये ! विदन्नपि न वेत्सि पश्यन्नपि न पश्यसि, खिद्यमानोऽपि न खिद्यसे । हा हन्त ! हन्त ! कियद् वरं भवेद् यदि त्वमालोकेथा; स्वपरिस्थितिम्, अनुभवे स्वदशाम्, खिद्येथाः स्वकृत्यं प्रति । किन्न तदाऽविरलमश्रूणि मुञ्चेः, किन्न तदा मानसं द्वैधीभवेत् किन्न तदापि कोपमुज्झेः, किन्न तदा सुखी भवेः ?

२०—क्रोध को असत्य करो

आत्मन् ! तू कुपित होता है, बार बार कुपित होता है। अपने पर कुपित होता है, दूसरों पर कुपित होता है। अहित पर कुपित होता है, हित पर कुपित होता है। मित्रों पर कुपित होता है और शत्रु पर भी कुपित होता है।

आश्चर्य ! सुकृत का लोप करने वाले क्रोध का यह उद्भव है। तू अवगुण पर कुपित नही होता और न बुरी आदतों पर ही। यदि क्रोध करने में ही तेरी रुचि है तो भले कर। मैं मानता हूँ, तू सोचता है—'मैं प्रकृति-विवश हूँ, इस क्रोध को कैसे छोड़ूँ ?'

भद्र ! चिन्ता छोड़। इस चिन्ता से क्या ? तू छोड़ना चाहता है परन्तु छोड़ने में समर्थ नही है—यह हो सकता है।

परन्तु आत्मन् ! तू देख। तुझमें भी असावधानता है। भूले भी तेरे पीछे लगी हैं। तुझमें सन्देह भी जीवित है। तू मोहित भी होता है। तू दूसरों की निन्दा करता है। तू दूसरो की उन्नति देखना नही चाहता और न दूसरों के हितों को ही देख सकता है। जिसके लिए तू दूसरो को गालियाँ देता है, वह सब कुछ तू करता है। जिन्हे जानकर तू दूसरों की अवज्ञा करता है, उन सभी अवगुणों को तू निपुणता के साथ संरक्षण दे रहा है। आश्चर्य ! तू जानता हुआ भी नहीं जान रहा है, देखता हुआ भी नही देख रहा है, खेद को प्राप्त होता हुआ भी खेद नहीं कर रहा है। हा ! हन्त ! हन्त ! क्या ही अच्छा होता, यदि तू अपनी परिस्थिति को देखता, अपनी दशा का अनुभव करता और अपने कृत्यों के प्रति खिन्न होता। क्या तब तू आँसू की अविरल धारा नहीं बहाता ? क्या तब तेरे मन के दो टुकड़े नही हो जाते ? क्या तब भी तू क्रोध का परित्याग नहीं करता ? क्या तब तू सुखी नही हो जाता ?

२१—वीर्यं पुनर्दुर्लभम्

बहु श्रूयते, कुशलमनुभूयते, दूयते, तथापि न जाने किं जातम्, न खल्वात्म-साधनायां स्फुरति तादृशी भक्तिः, तादृशी शक्तिः, यादृशी च पोस्फुरीति व्यर्थविडम्बनायाम्।

मोहध्वस्तसमस्त सत्प्रवृत्तयो लोकाः क्व लोकन्ते अन्तर्लोचनेन शुद्ध-मध्वानम्। अवलोकमाना अपि केचित् क्व तत्र रुचिं निष्पादयन्ति। रोचमाना अपि केचन तं प्रत्युपतिष्ठन्ते दूरं विरोचनमिव। स्फुटसंकटोऽयं धर्मस्य, यन्नहि तत्र उद्युञ्जते जनाः शक्तिमुद्भूय। कः किं विवक्षेत्, कः किं शुश्रूषेत्?

वक्षसि विनयस्य हस्तं तोलयामि प्रशस्ताऽप्रशस्तमाचरितम्, तदा विहस्तं भवति मानसम्। मन्ये मानसं नाश्नुवानो हंसोऽवसीदति निषण्णः क्वापि मरुप्रदेशे। हा! क्व मयि धीरिमा, क्व गभीरिमा; क्व च साहसम्, क्व च सद्वीरिमा। केवलं गड्डरीप्रवाहमनुकुर्वन्नेव सततं यामि। साधयामि पुराणमेव पन्थानम्। नाराधयामि अन्तर्यामिनम्।

भृशमूहे; ईहे, वहामि च दुरभिमानम्। तथापि नावगाहे संयमे स्फुरद्-गतिम्; सञ्चरिष्णुं च पराक्रमम्।

आत्मन्! अद्यापि वर्षर्तुरायात एव। इदानीं बहलबलाहककर्बुरं भविष्यति व्योममण्डलम्, मा निराशामुखं पश्य, सज्ज, सज्ज, अर्जय कृषिम् भविष्यति सर्वं सफलम्। विकचा भविष्यति रोमराजिः।

२१—शक्ति और दुर्लभ है

वहुत सुना जाता है, अच्छी तरह से अनुभव किया जाता है, अनुताप भी होता है, फिर भी मालूम नहीं, क्यों आत्म-साधना में वैसी भक्ति अथवा शक्ति स्फुरित नहीं होती, जैसी व्यर्थ विडम्बनाओं में होती है।

जिनकी समस्त सत्प्रवृत्तियाँ मोह से ध्वस्त हो चुकी है, वे लोग अपने अन्तर्नयन से विशुद्ध मार्ग को कहाँ देखते हैं ? देखते हुए भी कई व्यक्ति उसमें रुचि कहाँ रखते है ? रुचि रखते हुए भी कई उससे दूर रहते है, जैसे—वह अग्नि हो। धर्म का यह स्पष्ट संकट है कि लोग शक्ति को बटोरकर उसमे व्यापृत नहीं होते। कौन क्या कहना चाहे ? कौन क्या सुनना चाहे ?

अपने वक्ष पर हाथ रखकर यदि मैं प्रशस्त और अप्रशस्त आचरणों को तौलता हूँ तो मेरा मन व्याकुल हो उठता है। मानता हूँ कि किसी मरु-प्रदेश में वैठा हुआ हँस मानस सरोवर को पाए विना दुःख पाता है। हाय ! मुझमें वह धैर्य कहाँ है, वह गम्भीरता कहाँ है ? वह साहस कहाँ है और कहाँ है वह सद्वीर्य ? केवल गड़री-प्रवाह का अनुकरण करता हुआ ही सतत चल रहा हूँ। पुराने मार्ग को ही साध रहा हूँ। अन्तर्यामी की आराधना नहीं कर पा रहा हूँ।

वहुत तर्क-वितर्क करता हूँ और दुरभिमान ढोता हूँ, फिर भी संयम मे मेरी गति स्फुरित नहीं होती और न पराक्रम ही काम देता है।

आत्मन् ! अभी वर्षा-ऋतु आयी ही है। अभी सारा व्योम-मण्डल मेघों से चितकबरा हो जायेगा। निराशा का मुँह मत देख। अपने आपको सज्जित कर, सज्जित कर, वीज बो, सभी सफल होगा। तेरा रोम-रोम पुलकित हो उठेगा।

२२—स्वातन्त्र्यम्

स्पृहयन्ति सर्वेऽपि तनुभृतः स्वतन्त्रताम्। किन्तु वास्तविकीं स्थितिं ये विदन्ति, ते विरला एव।

यद्यात्मा स्वतन्त्रोऽस्ति, न तदानीं शासनं विधत्ते हि पारतन्त्र्यम्। ये नानुशासति मनः, ते स्वतन्त्रा अपि परवशा एव। ये नार्हन्ति स्वात्मानमप्यनुकूलयितुम्, ते किमनुकूलयेयुरन्यान्? येषां मनोवृत्तिः सदाचारेभ्यः प्रतिकूला, तेषां यथाकामिता प्रतीपमाचरति पन्थानम्।

निरवग्रहता न नामोच्छृङ्खलता नोदण्डता च।

स्वाधीनैरतिनम्रैर्भाव्यम्, अन्यथा प्राप्तापि स्वच्छन्दता भवेल्लज्जाकरी दुःखावहा च। जठराग्निमन्दतायामभ्यवहृतान्यपि सुधास्वादूनि मिष्ठान्नानि न वपुः प्रीणयेयुः, अपितु शोषयेयुः शरीरसारस्यं वितनुयुश्च तद्वैरस्यम्। केवलं रसनारसमास्वादयति, एधते च लोलुपता भ्रश्यते च विवेकेन।

केन विपश्चिता हन्त हन्त! अनुमन्येत खल्वेतादृशो भोजनविधिः। केन संख्यावता प्रशस्येत तादृशी स्वायत्तता, या ऽ। मद्यपरम्परा इव सत्कार्य-साधकमपि चेतः स्पृशति, व्यथते, तरलयति, कृशयति, ज्वरति, संतापयति, नामशेषतां च नयतीति।

२२—स्वतन्त्रता

सभी प्राणी स्वतन्त्रता की कामना करते हैं। किन्तु वास्तविक स्थिति को जानने वाले बहुत कम हैं।

जब आत्मा स्वतन्त्र होती है, तब परतन्त्रता का शासन नहीं रहता। जो मनुष्य अपने मन पर अनुशासन नही करते, वे स्वतन्त्र होने पर भी परतन्त्र है। जो अपनी आत्मा को अनुकूल करने में समर्थ नहीं, क्या वे दूसरों को अनुकूल कर सकेंगे-? जिनकी मनोवृत्ति सदाचार के प्रतिकूल है, उनकी स्वतत्रता भी प्रतिकूल मार्ग को पकड़ लेती है। उच्छृंखलता स्वतन्त्रता नही है, उद्दण्डता स्वतन्त्रता नहीं है।

स्वतन्त्र व्यक्तियों को बहुत ही नम्र होना चाहिए, अन्यथा मिली हुई स्वतंत्रता भी लज्जास्पद और दु:खकर बन जाएगी। जठराग्नि मन्द होती है, खाया हुआ अमृततुल्य स्वादिष्ट मिष्टान्न भी शरीर को पुष्ट नहीं करते, अपितु उसकी सरसता को खींच लेते है और उसे विकृत बना देते है। जीभ केवल रस का स्वाद लेती है, उससे लोलुपता बढ़ती है और विवेक नष्ट हो जाता है।

हन्त! हन्त! ऐसी भोजन-विधि को कौन विद्वान् मान्य करेगा? कौन बुद्धिमान् व्यक्ति ऐसी स्वतन्त्रता की प्रशंसा करेगा, जो रोग-परम्परा की तरह सत्कार्य-साधक मन को छूती है, उसे व्यथित करती है, चपल बनाती है, कृश करती है, ताप पहुँचाती है, संतप्त करती है और उसका समूल नाश कर देती है।

२३—पृष्ठमांसादनम्

कर्णातिथीक्रियन्त आगमोपदेशाः। नयनगोचरतां प्रपद्यन्ते कविमूर्धन्यानां सूक्तयः। हन्त! हन्त! तथापि परापवादरसिकता न मुञ्चति मनोविहारम्। प्रतिदिनं "तस्स भन्ते! पडिक्कमामि, निन्दामि, गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि"—इति संजपन्तोऽपि "पिट्ठिमंसं न खाइज्जा" इति मनोरोच्यं वाक्यं श्रद्दधाना अपि 'असच्छरीआ' इति विशेषणमनुमन्यमाना अपि जना यदि परोक्षदोषकीर्तनस्य कुहेवाकं नहि विजह्युः, तदानीं किमतः परमुदाहरणं भविष्यति प्रकृतिविवशतायाः।

आश्चर्यम्! महदाश्चर्यम्!! नातः स्यात् पीवरः कायः, न च शाम्यति क्षुत्; न चापयात्यपलासिका, न सौजन्यमावहन्ति मतयः। नास्त्यत्र कोऽपि सुरभिपरिमलः। नास्ति कोऽपि लोलाविलोललालाप्रवाही स्वादः। नाप्यस्ति कश्चित् श्रुतिसुखदो निनादः। न च मनसा जनितोऽस्ति कोऽप्याह्लादः। हा! हा!! तदपि कोऽयं जडानां तत्रानुरागः—यद् विरागधुरीणतां प्रदर्शयन्तोऽपि परपरभागमसहमाना महाभागपदवीमादातुमुत्कन्धरा अपि वत! परान्निन्दतोऽपि न नाम किञ्चिदपि त्रपन्ते। तेऽधमेभ्योऽप्यत्यधमा, ये खल्वीदृशं जघन्यं कर्म समाचरन्ति। मनुष्येषु स्युरवगुणा अपि, लघीयस्यो गरीयस्यस्त्रुटयोऽपि, निःसंशयं भवेयुस्तद् द्रष्टारोऽपि, परंतु द्रष्टॄणामौचित्यमत्रैव, यत्ते सविवेकं यथोचितं तत् त्रुटिविधातॄणां पुरत एव तद्वाच्यं प्रकटमभिदधीरन्। यदि नैतादृशं सामर्थ्यम्, किं तदा सार्थकं पृष्ठदोषोद्भावनमपि। केचन पण्डितंमन्या वाक्चातुर्यानायं वितन्वाना 'न वयं तान्निन्दितुमिच्छामः' इति शपथं श्रयमाणा नवीनामेव परापवादपरिपाटीं प्रचारयन्ति। ते मन्द-मेधसो विप्रतारयन्त्युभयथापि स्वात्मानम्। किं वहुलिखामि—परिग्रहं ग्रहमिव; स्त्रैणं तृणमिव मन्वानानामपि मनो नातो विरमति विकृतिं परिहरतां रसास्वादं विजहतामपि रसज्ञा परदोषगाथारसं रसितुं किञ्चित्तु चपलयत्येव। तूष्णीं पुष्यन्तोऽपि चैतादृशेऽवसरे स्वेङ्गितं तु सम्मिश्रयन्त्येव। धिक् परापवादस्वभावविडम्बितम्। धन्यास्ते प्रकृतिमहात्मानो, ये नात्र स्वपादान्न्यस्यन्ति।

२३—चुगली

आगम का उपदेश सुना जाता है, श्रेष्ठ कवियों की सूक्तियां पढ़ी जाती हैं। आश्चर्य ! फिर भी दूसरों की चुगली करने की आदत नही छूटती। "हे भगवन् ! में (दोषों का) प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ" प्रतिदिन यह जप करते हुए भी, 'चुगली नहीं करनी चाहिए—इस मनोरम वाक्य पर श्रद्धा रखते हुए भी, 'अमत्सरी' इस विशेषण का अनुमोदन करते हुए भी यदि मनुष्य परोक्ष में दोष कहने की बुरी टेव को नहीं छोड़ते तो प्रकृति-विवशता का इससे बढ़कर और क्या उदाहरण होगा ?

आश्चर्य है ! महान् आश्चर्य है—इससे शरीर भी पुष्ट नहीं होता, भूख प्यास नहीं मिटती और बुद्धि में सौजन्य भी नहीं आता। न इसमें कोई परिमल-सुरभि है, न कोई जीभ को ललचाने वाला स्वाद, न कानों को सुख देने वाला निनाद और न कोई मानसिक आह्लाद ही है। खेद ! फिर भी जड़ व्यक्तियों का यहाँ कैसा अनुराग है कि वे अपने उत्कृष्ट वैराग्य का प्रदर्शन करते हुए भी दूसरों के गुणोत्कर्ष को सहन नही कर सकते। वे बड़प्पन के लिए उत्सुक रहते हुए भी दूसरों की निन्दा करते नहीं लजाते। जो ऐसा जघन्य कर्म करते है वे अधमों से भी अधम है। मनुष्यों में अवगुण भी होते हैं, छोटी-बड़ी भूले भी होती है और यह निश्चित है कि उन्हें देखने वाले भी होते हैं। परन्तु दोष देखने वालों के लिए उचित यह है कि वे दोष करने वालों के समक्ष ही उस दोष को पूर्ण विवेक और यथोचित मार्ग से प्रकट करें। यदि ऐसा सामर्थ्य न हो तो चुगली करने का क्या अर्थ होगा ?

अपने आपको पण्डित मानने वाले कई व्यक्ति अपनी वाणी के कौशल का जाल बिछाकर शपथ पूर्वक जो यह कहते हैं—"हम उनकी निन्दा करना नहीं चाहते किन्तु वस्तु-स्थिति वता रहे है, वे चुगली की नई परिपाटी को प्रचारित कर रहे हैं। वे मन्द बुद्धि वाले लोग दोनों ओर से अपनी आत्मा को धोखा देते हैं। ज्यादा क्या लिखूं—परिग्रह को 'मगर' और स्त्रियों को तृण की तरह मानने वालों, विकृति का वर्जन करने वालों तथा रसास्वाद को छोड़ने वालों की जीभ भी दूसरों की दोष-गाथा का रसपान करने में कुछ तो चपल हो ही जाती है। मौन रखने वाले भी ऐसे अवसरों में अपने संकेतों का मिश्रण तो कर ही देते हैं। चुगली के स्वभाव की बिडम्बना को धिक्कार है। जो इस क्षेत्र में अपने चरण नहीं रखते, वे स्वभावसिद्ध महात्मा धन्य हैं।

२४—ब्रह्मचर्यम् (प्रथमम्)

हिमवतो महन्, भास्वतोऽतिशायि तेजो बिभाति ब्रह्मचर्यं नाम सर्वव्रतावतंसं महाव्रतम्। गीतमिदं महर्षिभिः, उपश्लोकितमाचार्यैः, कीर्तितं कविकुलकिरीटैः, ईडितञ्च निखिलैरपि चतुरचेतनैः।

उपबृंहितो जगति जनजनमुखेऽस्यार्थवादः। निर्विवादमभ्यर्चितमिदमेकार्णवं सकलेष्वपि क्षेत्रेषु। आध्यात्मिकैरभिमतमात्मविकासस्य सर्वप्रथमं साधनम्। लौकिकैरभिलक्षितं बलैकनिदानम्। वीर्यतः परं नास्ति किञ्चित् पराक्रमम्।

भुक्तस्याहारस्य चत्वारिंशे दिने रसादि-धातुषट्कानान्तरं सप्तमो धातुर्वीर्यं निष्पद्यते। तदतिस्वल्पम्। शरीरविदां मतानुसारेण एकमणाहाराद् एकप्रस्थप्रमितं रक्तं निष्पद्यते।

ततश्च केवलं कर्षद्वयं वीर्यं प्रजायते। अवगम्यमेतेन तत् कियत् सारभूतमस्ति।

२४—ब्रह्मचर्य(१)

ब्रह्मचर्य सबसे बड़ा व्रत है—महाव्रत है। वह हिमालय से महान् और सूर्य से अधिक तेजस्वी है। सभी महर्षियों ने इसे गाया है, आचार्यों ने इसकी श्लाघा की है, कवियों ने इसकी कीर्तना की है और सभी निपुण व्यक्तियों ने स्तवना।

इसकी यशोगाथा जन-जन के मुँह पर है। सभी क्षेत्रों में इसकी समान और व्यापक अर्चना हुई है। अध्यात्मवादियों ने इसे आत्म-विकास का प्रथम साधन माना। लौकिक व्यक्तियों ने इसे शक्ति का एक मात्र कारण समझा। वीर्य से बढ़कर कोई दूसरा पराक्रम नहीं है।

जो भोजन किया जाता है, उसका रस बनता है, उसके पश्चात् रक्त मांस, मेदा, हड्डी और मज्जा बनती है। फिर चालीसवे दिन वीर्य बहुत ही थोड़ा बनता है, वह सातवाँ धातु है। शरीर-शास्त्रियों के मतानुसार एक मन भोजन से एक सेर रक्त बनता है। उससे केवल दो तोले वीर्य बनता है। वह कितना सारभूत है, यह इससे जाना जा सकता है।

इदं शरीरं नूनं तदाधारेणैवावस्थितं सन्ति। प्रोच्यतेऽपि तज्ज्ञैः—"मरणं बिन्दु पातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।" यद्यपि नेति वयं मन्तुं सावकाशा यद् वीर्यरक्षैव ब्रह्मचर्यम्, केवलं स्पर्शनेन्द्रियसंयम एव ब्रह्मचर्यमिति वा।

न खलु यावन् रसनायाः, चक्षुषोः, कर्णयोः, घ्राणेन्द्रियस्य, मनोविकल्प संकल्पयोश्च संयमः स्यात्, तावद् ब्रह्मणः कथापि नान्यथेति प्रत्यक्षं निरीक्ष्यते नव वादिषु दशमे च कोट्टे। तथापि विवशा वयं स्वीकर्तुमेतत्—यद् अब्रह्मचर्येण वीर्यस्याऽकल्पिता क्षतिर्जायते। सा विशेषतश्चाप्राकृतिकेन कर्मणा, हस्तमैथुनादि-दुर्दान्तदोषेण कृत्रिमोपायेन च। एतादृशेषु दुराचारेषु कृतपादविहाराणां या दयनीया दशा सम्पद्यते सा किल शब्दैरङ्कितुमशक्या।

मानसिकमैथुनेन वीर्यपरमाणूनांश्लथता जायते। ततश्च भवति तत्पातः। तेन प्रादुर्भवन्ति संख्यामतिक्रान्ता रोगा महोरगा इव भयङ्कराः।

विलोक्यतेऽपिच
कम्पः खेदः श्रमो मूर्छा-
भ्रमिर्ग्लानिर्बलक्षयः।
राजयक्ष्मादिरोगाश्च;
भवेयुर्मैथुनोत्थिताः॥

वीर्यविहीनानां भवति सूक्ष्मोष्ठपुटम्, पलायते क्वापि मुखच्छविः, न दृग्गोचरो भवति विश्वासः, शिथिलं वपुः, कुटिला मतिः, प्रबलः कोपः, न्यूनं धैर्यम्, सस्तम्भना विचाराः, क्षीणा निद्रा, किं किं वाच्यम्—ते जीवन्तोऽप्युच्छ्वसन्तोऽपि निःश्वसन्तोऽपि मृता इव भवन्ति सकलक्रियाकलाप विकलाः। मस्तिष्कशून्यता, मान्द्यमग्नेः, रुधिरन्यूनत्वं, श्लेष्मवृद्धिः, कोष्ठबद्धतेत्यादयोऽनेके विकारा विकृतयश्च मानसिक्यो न कदापि दुराचाररतान् तान् विहाय गन्तुमन्यत्र समुत्सहेरन्तिति काममालोच्य विचाररमणीयैर्विरमणीयमीदृशो जघन्यवृत्तेः।

यह शरीर वीर्य के आधार पर ही टिका हुआ है। योगियों ने कहा है—वीर्य बिन्दु के स्खलित होने का अर्थ है मृत्यु और उसके धारण का अर्थ है जीवन। यद्यपि हम यह मानने के लिए तैयार नही कि "वीर्य रक्षा ही ब्रह्मचर्य है" या "केवल स्पर्शन-इन्द्रिय का संयम ही ब्रह्मचर्य है।" जब तक रसना, आंख, कान, नाक और मन के संकल्प-विकल्पों का संयमन नहीं होता; तब तक ब्रह्मचर्य की बात भी संगत नहीं लगती। ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ों और दसवें परकोटे में इसका प्रत्यक्ष-दर्शन होता है। फिर भी हम यह मानने के लिए विवश हैं कि अब्रह्मचर्य के द्वारा वीर्य की अकल्पित क्षति होती है और अप्राकृतिक क्रियाओं से, हस्तमैथुन आदि दुर्दान्त दोषों से और कृत्रिम उपायों से क्षति की मात्रा बढ़ जाती है। इन दुराचारों में फंसे हुए व्यक्तियों की जो दयनीय दशा होती है, उसे शब्दों में अंकित नहीं किया जा सकता।

मानसिक अब्रह्मचर्य से वीर्य के परमाणु शिथिल हो जाते हैं। उसके बाद वह (वीर्य) स्खलित होता है। उससे सर्पों की तरह भयंकर अनेक रोग प्रकट होते है।

कहा भी है—

'अब्रह्मचय के द्वारा कम्पन, स्वेद, श्रम, मूर्च्छा, भ्रमि, ग्लानि, शक्ति का क्षय राजयक्ष्मा आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

वीर्य-विहीन मनुष्यों के होठ रूखे होते है, उनके चेहरे की शोभा विलीन हो जाती है, उनमें विश्वास नहीं होता, शरीर शिथिल हो जाता है, बुद्धि कुटिल बन जाती है, क्रोध प्रवल हो जाता है, धैर्य की न्यूनता हो जाती है, विचारों में दृढ़ता नहीं रहती, नींद क्षीण हो जाती है—और क्या क्या कहा जाय, वे जीवित रहते हुए भी, श्वासोच्छ्वास लेते हुए भी मृत व्यक्तियों की तरह निश्चेष्ट बन जाते है।

मस्तिष्क की शून्यता, अग्नि की मन्दता, रक्त की न्यूनता, श्लेष्मा की वृद्धि कोष्ठवद्धता आदि अनेक विकार और मानसिक विकृतिया उन दुराचारी व्यक्तियों को छोड़कर अन्यत्र जाना ही नहीं चाहती। बहुत गहराई से सोचते हुए विचार-शील व्यक्तियों को इस जघन्य वृत्ति से विरत होना चाहिए।

२५—ब्रह्मचर्यम् (द्वितीयम्)

"से सुयं च मे, अज्झत्थं च मे, बंधप्पमोक्खो तुज्झत्थे व। से सुपरिबुद्धं सुवणियंति नच्चा पुरिसा। परमचक्खू विप्परिक्कम एएसु चेव वम्भचेरं तिवेमि।"

मया श्रुतम्, मयानुभूतम्, यद् बन्धनाद् आत्मानं मोक्तुं त्वं स्वतन्त्रोऽसि। अतः ज्ञानिनः सकाशाज् ज्ञानमुपलभ्य अये परं चक्षुष्मन् पुरुष! त्वं पराक्राम, एतस्यैव ब्रह्मचर्यमिति नाम समस्ति, इत्यहं ब्रवीमि।

न खलु केवलं पशुक्रियातो विरमणमेव ब्रह्मचर्यम्। ब्रह्मचर्य किल ब्रह्मणि—परमात्मनि, चरणम्-रमणम्, निरूपितं महर्षिमूर्धन्येन धन्यावतारेण भगवता ज्ञातनन्दनेन। सर्वेषामिन्द्रियाणां सर्वेषामसद्विचाराणां सन्निग्रहादेव सतस्वरूपमाविर्भवति आत्मनो विना कञ्चिद् विलम्बम्।

ऐदंयुगीनानां नैकेषां पटीयोऽवतंसानामपि 'ब्रह्मचर्यं नृणामसंभवीति' काञ्चिदपूर्वां वाग्वैदग्धीं परिसज्य सस्मयमुदञ्चति कर्णयुगली। अहो! अनन्तशक्तिशालिनामात्मनां किं कर्तुमशक्यम्। अशक्यमिदमशक्यमिति सततं शृण्वतामात्मबलं भवति शतखण्डम्; शक्यतामनुभवतो जनस्य शतगुणं स्फुरति मनोबलम्। भावनामनुसरति कर्म। ब्रह्मव्रतं नासंभवि, न चाशक्यम्, शक्यमेव नहि किन्तु सुशक्यं स्याद् यदि कश्चित् तस्य सद्विधिमाचरेत्। पृष्ठिं दर्शयतो गच्छतो नहि भवति मुखस्यावलोकनम्! परम्, अभिमुखं गच्छन्नपि किमु तन्नावलोकताम्? यः संकल्पान् निरुणद्धि उद्दाममुद्यम्य मनोविशदयितुमुच्चैर्यतेत, परिणामभयंकरा इमे भोगा इति ध्यायं ध्यायं प्रतिपलं स्वाध्यायमग्नः, लग्नो विशुद्धचिन्तायामात्मानं सुरक्षेत्, सर्वथा जीवनं अवमत्यापि ब्रह्मचर्यं मम पालयितव्यमेव, इत्येव सुदृढं प्रतिजानतां मनस्विनां मनो दुनोतु किन्नाम कामः?

यः शैथिल्यमालिङ्गति, तमेव कामा उपद्रवन्ति। इन्द्रियनिग्रहं चेष्टमानस्य कामाः किं सम्पादयेयुरनिष्टम्। इष्टं साधमामि वा पातयामि शरीरम् "चइज्ज देहं नहु धम्मसासणं" इति प्रतिश्रुतिर्यस्य महात्मनस्तं विकाराः कुटिलदृशा द्रष्टुमपि नार्हेयुः।

आर्य! बुभूषसि ब्रह्मचारी, तत् तदर्थमेव सर्वमाचर। माऽऽनन्दाय स्पृश, माऽऽनन्दाय भुङ्क्ष्व, माऽऽनन्दाय जिघ्र, माऽऽनन्दाय पश्य, माऽऽनन्दाय शृणु, माऽऽनन्दाय चिन्तय।

२५—ब्रह्मचर्य—(२)

"मैंने सुना है, मैंने अनुभव किया है कि आत्मा को वन्धनमुक्त करने में तू स्वतन्त्र है। अत· ज्ञानी पुरुषों से ज्ञान प्राप्त करके हे परम चक्षुष्मन् पुरुष! तू (वन्धन-मुक्ति के लिए) पराक्रम कर—यही ब्रह्मचर्य है—ऐसा मैं कहता हूँ।"

कोरा मैथुन से विरत होना ही ब्रह्मचर्य नही है। महर्षि मूर्धन्य, धन्यावतार भगवान् महावीर ने परमात्म-रमण को ब्रह्मचर्य कहा है। समस्त इन्द्रिय और असद्द् विचारों के पूर्ण-निग्रह से आत्मा का सत् स्वरूप अविलम्ब प्रगट होता है।

आधुनिक युग के वहुत से विज्ञ व्यक्ति 'मनुष्य के लिए ब्रह्मचर्य असम्भव है'—इस वाचिक पाण्डित्य का प्रसार करते हैं, जिसे सुन कान खड़े हो जाते है। अहो! अनन्त शक्तिशाली आत्मा क्या नहीं कर सकती? "यह अशक्य है, यह अशक्य है,' ऐसा सुनते-सुनते आत्मवल शतशः खण्डित हो जाता है। जो व्यक्ति प्रत्येक कार्य की शक्यता का अनुभव करते है, उनका मनोबल शतगुणित स्फुरित होता है। क्रिया भावना के पीछे चलती है। ब्रह्मचर्य का पालन न असम्भव है और न अशक्य ही। वह शक्य ही नहीं, सुशक्य है यदि कोई व्यक्ति उसका विधिवत् पालन करे। पीठ दिखाकर जाने वाले का मुँह नहीं दीखता। किन्तु क्या सामने जाने वाला भी उसे नही देखेगा? जो संकल्पों का निरोध करता है, मन का निग्रह कर उसे पवित्र वनाने यत्नशील रहता है, भोगों का परिणाम भयंकर होता है'—यह सोचकर स्वाध्याय मे प्रतिपल रत रहता है, विशुद्ध चिन्तन में संलग्न रहकर जो आत्मा को सुरक्षा करता है और जो 'जीवन को सर्वथा गौण करके भी मुझे ब्रह्मचर्य का पालन करना है'—ऐसी सुदृढ़ प्रतिज्ञा करता है, ऐसे मनस्वी पुरुषों को क्या 'काम' पीड़ित कर सकेगा?

जो शिथिल होता है, उसे ही काम-वासनाएं पीड़ित करती हैं। वे उनका क्या अनिष्ट करेंगी, जो इन्द्रिय-निग्रह के लिए प्रयत्नशील है। "इष्ट को प्राप्त करूँगा अन्यथा शरीर छोड़ दूँगा," 'शरीर को छोड़ दो, किन्तु धर्म-शासन को मत छोड़ो'—जिस महात्मा का ऐसा संकल्प है उसे विकार वक्र दृष्टि से देख ही नहीं सकते।

आर्य! तू ब्रह्मचारी होना चाहता है तो तू सब कुछ उसी के लिए कर। आनन्द के लिए मत छू, आनन्द के लिए मत खा, आनन्द के लिए मत सूंघ, आनन्द के लिए मत देख, आनन्द के लिए मत सुन, आनन्द के लिए मत चिन्तन कर।

विशेषतो हि रसनास्वादं संवृणु; ब्रह्मचर्ये अशुचिजनकान् सुस्वादूनपि पदार्थान् परिहर, वपुर्निर्वाहयितव्यं न च सन्तोष्टव्या रसना इति सुचिरं पर्यालोचयन् अभ्यवहर। उपदिष्टमागमेऽपि—

रसापगामं न निसेवियव्वा,
भुत्ता रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥१॥
जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे,
सामारुओ नोवसमं उवेइ।
एविंदियग्गिविपगामभोइणो,
न बंभयारिस्स हियाय कस्सइ ॥२॥
विवित्त सिज्जासण जंतियाणं,
ओमासणाणं दमिइन्दियाणं।
न रागसत्तु धरिसेइ चित्तं
पराजिओ वाहि रिवोसहेहिं ॥३॥

चक्षुःसंयमं कुरु—आवश्यकमेव पश्य, तत्रापि समुद्भवेन् आकस्मिको विकारस्तदानीं तदात्वमेव दृष्टिं विरम, निमीलय वा, चिन्तय—यादृग् ममात्मा तादृग् अस्याः, (अस्य) इयं माता, इयं भगिनी, माता-माता-माता इति ध्वनिं नैकशो मानसे परिवर्तय (पिता, भ्राता, स्त्रीणां कृते)।

सदुपाया अमी समुज्जृम्भन्ते भगवदुक्तावपि—अदंसणं चेव अचिंतणं च, अपत्थणं चेव अकित्तणं च। इत्थीजणस्सारियभाणजुग्गं, हियं सया बंभवए रयाणं।

निष्क्रियो मा तिष्ठ, विचारानपि स्वाध्याये ध्याने धर्मकथायां वा संलग्नान् रक्ष, निष्क्रियाणां नूनमुत्पद्यते उन्मादः, सत्यकार्यरतानाञ्च सफलः समतिक्रामति समयः। मया ब्रह्मव्रतैकनिष्ठेन (निष्ठया) प्रतिपलं सफलनीयम्—इति ध्येयम्।

इस ओर ध्यान दे—जीभ के स्वाद का संवरण कर, ब्रह्मचर्य में आसक्ति उत्पन्न करने वाले स्वादिष्ट पदार्थों को भी छोड़ दे। मुझे शरीर का निर्वाह करना है, जिह्वा की तुष्टि नहीं—यह सोचकर भोजन कर।

आगम में भी कहा है—

"घी, दूध आदि रसों का वहुत सेवन नहीं करना चाहिए। रसयुक्त पदार्थ मनुष्यों के लिए उद्दीपक होते है। जिस प्रकार स्वादु फल वाले वृक्ष की ओर पक्षी उड़ आते हैं, उसी तरह से उत्तेजित मनुष्य की ओर काम-वासनाएं दौड़ी चली आती हैं।"

"जिन तरह प्रचुर काष्ट से भरे हुए वन में अग्नि लग जाए और साथ ही पवन चलती हो तो दावाग्नि नही बुझती। उसी तरह से अति मात्रा में—यथेष्छ आहार करने वाले मनुष्य की इन्द्रियाग्नि शात नही होती। ब्रह्मचारी के लिए अति आहार हितकर नहीं है।"

"एकान्त शय्या और आसन के सेवी, अल्पाहारी और जितेन्द्रिय पुरुष के चित को विषय रूपी शत्रु पराभूत नहीं कर सकता। औषध से जैसे व्याधि पराजित हो जाती है, वैसे ही इन नियमों के पालन से विषय रूपी शत्रु पराजित हो जाता है।"

चक्षु का संयम कर। जिसे देखना आवश्यक है, उसी को देख। यदि वहाँ भी आकस्मिक विकार उत्पन्न हो जाए तो तत्काल दृष्टि को मोड़, अथवा आंखों को मूंद और सोच कि "जैसी मेरी आत्मा है, वैसी ही आत्मा इसकी है। यह माता है, यह वहन है, मां, मां, मां,—इस ध्वनि को बार-वार दुहरा। (स्त्रियों के लिए पिता, भाई आदि।)

भगवान की वाणी में ब्रह्मचर्य के ये सदुपाय हैं।—"स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मंजुल भाषण, अंग-विन्यास और कटाक्ष आदि को न देखना चाहिए। उनकी इच्छा नहीं करनी चाहिए, उनका मन में चिन्तन नहीं करना चाहिए, उनका कीर्तन नहीं करना चाहिए। ब्रह्मचर्य ब्रत में रत पुरुष के लिए ये नियम सदा हितकारी और आर्य-ध्यान—उत्तम समाधि प्राप्त करने में सहायक हैं।"

निठल्ला होकर मत वैठ, अपने विचारों को भी स्वाध्याय, ध्यान अथवा धर्म-कथा में लगाए रख। निठल्ले मनुष्य को उन्माद सताता है, जो सत्कार्य में रत रहते हैं, उनका समय सफल बीतता है: "ब्रह्मचर्य में एक निष्ठ रहकर ही पल-पल को सफल कर सकता हूँ"—इसलिए तू चिन्तन कर—

"जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ॥"

मम मन्त्रोऽस्ति—"समयं गोयम! मा पमाए", ममोद्देश्यमस्ति—आत्मशोधनम्, अनन्तसुख-प्राप्तिः दुःखातिक्रमणम्।

"कामे कमाहि, कमियं खु दुक्खं।"

"कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्संतगं गच्छइ वीयरागो।"

महामोहहताः पतन्ति अविनर्किते अनन्तदुःखसागरे। जितेन्द्रियाणां समुल्लसति, काचिदनिर्वचनीया शान्तिः। विकस्वरं चेतः, नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभा, स्वच्छा विचाराः, सदयं हृदयम्, निर्विकारो दृग्निपातः स्याद् ब्रह्मणि निरतानाम्।

सदालोचनं विरचय—कथं स्याद् ब्रह्मचर्यस्य पुष्टिः? के केऽस्य सदुपायाः? किं किं कुर्वन्नहमहमिति निष्कलङ्कमिदं व्रतमनुशीलयितुमिति वितर्कमागम्य स्यात् सुस्थिरा मतिः।

योगं तावत्, पद्मासनसिद्धासनादीनि विविधानि ब्रह्मसब्रह्मचारीणि सन्ति आसनानि, तानि साधयतो योगिनो नियन्त्रिता भवन्ति चेतसो वृत्तयः क्षीणातिचान्ताऽपि।

मनो विशृङ्खलं मा कुरु, यदा कदापि तद् असद् विकल्पान् सेवेत, तत्क्षणमेव तन्निगृहाण, समादिश रे! किं नापसारयसि सर्वस्व लुण्टाकान् अमून् महादस्यून्। चेतः! त्वमेव पश्चाद् दुःखं प्राप्स्यसि। चेदेवं ममादेशं नाङ्गीकरिष्यसि, तदानीं त्वां नियन्त्रयिष्यामि।

क्वचित् कठोरं क्वचित् कोमलं वृत्तिमारचयन्, क्वचिद् मैत्रीं क्वचित् शत्रुतां परिभावयन्, क्वचित् प्रसादयन् क्वचिद् विषादयन्, तज्जयं कुरु।

अये कुलनन्द ब्रह्मचारिन्! एवं बहुविधं चेष्टमानः ब्रह्मचर्यं सुखं साधयितुं शक्ष्यसि, सुलभीकरिष्यसि, सुखी भविष्यसि सनातनं सनातनेऽस्मिन् लोके।

"जो जो रात्रि वीतती है वह लौटकर नही आती। धर्म करने वाले की रात्रियां सफल वीतती है।

मेरा मन्त्र है—समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

मेरा उद्देश्य है—आत्म-शोधन, अनन्त सुख की प्राप्ति, दुःख का अतिक्रमण।

"कामो का अतिक्रमण कर, दुःख स्वयं अतिक्रान्त हो जायेगा।"

"देवो सहित सर्वलोक मे जो सव कायिक और मानसिक दुःख हैं, वे सव काम-भोगों की आसक्ति से ही उत्पन्न है। वीतराग पुरुष ही उन सबका अन्त ला सकता है।"

मोह से प्रताड़ित व्यक्ति अतर्कित अनन्त दुःख के सागर मे जा गिरते है। जितेन्द्रिय व्यक्ति अनिर्वचनीय शान्ति का अनुभव करते हैं। ब्रह्मचर्य मे लीन व्यक्तियों का चित्त प्रफुल्लित रहता है, प्रतिभा में नए-नए उन्मेष होते है, विचार स्वच्छ होतें हैं, हृदय दया से परिपूर्ण और उनका दृष्टिपात निर्विकार होता है।

यह सोच—ब्रह्मचर्य की पुष्टि कैसे हो? उसकी साधना के उपाय कौन-कौन से हैं? क्या करता हुआ मैं इस व्रत का निष्कलंक रूप से अनुशीलन कर सकता हूँ—जो ऐसे सोचता है, उसकी मति सुस्थिर वनती है।

योग की साधना कर। पद्मासन, सिद्धासन, ब्रह्मचर्य साधक विविध आसन हैं। उनकी साधना करने वाले योगी के चित्त की वृत्तिया नियंत्रित हो जाती है और वासना भी क्षीण हो जाती है।

मन को खुला मत छोड़। जव कभी वह असद् विकल्पों की ओर दौड़े, तत्क्षण उसका निग्रह कर और उसे आदेश दे—रे! तू सर्वस्व का हरण करने वाले इन महान् लुटेरों को क्यों नहीं भगा रहा है? चित्त! पीछे तू ही दुःखी वनेगा। यदि तू मेरा यह आदेश नहीं मानेगा, तो मैं तेरा नियत्रण करूँगा।

कहीं कठोर और कहीं कोमल वृत्ति रखता हुआ, कहीं मैत्री और कहीं शत्रुता दिखाता हुआ, कहीं प्रसन्न और कही खिन्न करता हुआ, उस पर (मन पर) विजय पा।

ओ तत्त्वज्ञ ब्रह्मचारिन्! इस प्रकार वहुमुखी प्रयत्न करता हुआ तू ब्रह्मचर्य की साधना करने में समर्थ हो सकेगा। वह तेरे लिए सुलभ हो जायेगा और तू सुखी।

२६—धर्मो दर्शनञ्च

अस्ति विचित्रा मानवानां विचारपरिपाटी। देशकालपरिस्थितिपरिच्छिन्ना सा नानात्वमाश्रयेदिति न विस्मयावहम्। आसीत् सोऽप्येकः समयो यस्मिन् धार्मिकः समय एवाभिमतो जनैर्निरामयः। साम्प्रतं दर्शनशास्त्रस्य महिमा भाति महीयान्। बहुसंख्यकानां विशेषतः शिक्षितानां ध्यानमभिसम्बध्नाति दर्शनमेव। न तेषां विलोक्यते धर्मशास्त्रेषु श्रद्धा। एतन्कारणमार्गणायां नास्ति किमपि काठिन्यम्। आधुनिकं युगं तार्किकयुगस्य ख्यातिमास्कन्दते। युवानो बाला अपि वा तर्ककषोपलानुत्तीर्णं तत्त्वं स्वीकर्तुं न नाम संदधते हृदयसूत्रम्।

यद्यपि भावानां प्रतिपत्तेर्नैक एव पन्थाः। न च स्वभावः पर्यनुयोगमर्हति। न खलु किमिह दहति धूमकेतुर्नाकाशमिति कोपि पर्यनुयुङ्क्ते। 'स्वभावे तार्किका भग्नाः' इत्यपि सर्वसंविदितमेव। कतिचन भावाः सन्ति हेतुग्राह्याः कतिचन नेति समुल्लषति स्याद्वादः। नैकान्तेन कथमप्यर्थसिद्धिः। तथापि बलीयसा दुराग्रहेण ग्रस्तमानसा जना धर्मशास्त्रेषु नितान्तमेव विप्रतिपद्यन्ते। किमिति स्याद् वरम्?

तानि शास्त्राणि स्वयमवराणि न खलु यानि सहन्ते कर्कशतर्कसंपर्कमपि। किन्तु दर्शनपद्धत्या परीक्षितानामर्थानामभिधायकानि यदि क्वचिद् द्वित्रेषु विषयेषु तर्कालिङ्गितानि न स्युस्तन्न तेषामयथार्थत्वसूचकम्। धर्मशास्त्रमेव युक्तिभिः परीक्षितं दर्शनं भवति। धर्मशास्त्रं भावान् निरूपयति दर्शनशास्त्रञ्च तान् परीक्षते, गुणदोषाणामालोचनां करोतीति यावत्।

धार्मिको जनः श्रद्धापरो भवति। स च आगमवाक्यं यथार्थं श्रद्दधीत सकलमपि। तादृशा आज्ञारुचयो[1] नानल्पा एव। धार्मिका अपि बहुलतया विस्ताररुचयः[2] समुपलभ्यन्ते, ये आगमोक्तमपि तत्त्वं हृदयङ्गमीकुर्वन्ति 'ननु' 'न च' पूर्वकम्। दार्शनिकेभ्यस्तद् भेदोऽयमेव प्रतिपत्तव्यः—यन् तर्कः स्खलति यत्र, तत्र 'तमेव सच्चं णिसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं' इति कृत्वा सन्तोषयति आत्मानं धार्मिकः।

१—आप्तोक्तश्रद्धापराः

२—विस्तरेण तत्त्वजिज्ञासवः

२६—धर्म और दर्शन

मनुष्यों की विचार-परम्परा विचित्र है। देश काल और परिस्थिति से विभक्त होने के कारण उसमें विविधता हो—यह आश्चर्यकर नहीं है। वह भी एक समय था, जिसमें लोगों ने धार्मिक सिद्धान्त को ही निरामय माना था। आज दर्शन-शास्त्र की महिमा अधिक है। वहुत से लोगों का, विशेषतः शिक्षित मनुष्यों का ध्यान दर्शन से जुड़ा हुआ है। धर्म-शास्त्रों में उनकी श्रद्धा नहीं दीखती। इसके कारण की खोज कठिन नही है। आज का युग तार्किक युग के रूप में प्रसिद्धि पा रहा है। आज के युवक अथवा वालक तर्क की कसौटी पर अनुत्तीर्ण तत्त्व को मानने के लिए हृदय के धागे को नहीं सांध पाते।

यद्यपि भावों की प्रतिपत्ति के लिए एक ही मार्ग नही है और न स्वभाव ही तर्क को सहन करता है। कोई भी यह प्रश्न नहीं करता कि अग्नि क्यों जलती है, आकाश क्यों नहीं जलता। 'स्वभाव के क्षेत्र में तार्किक भग्न हो जाते हैं'—यह सव जानते ही हैं। कई भाव हेतु-ग्राह्य होते है और कई अहेतु-ग्राह्य। यही स्याद्वाद है। एकान्तवाद से अर्थ की सिद्धि नहीं होती। परन्तु अत्यन्त दुराग्रही व्यक्ति धर्म-शास्त्रो में सदा विरोध देखते हैं। क्या यह अच्छा है ?

वे शास्त्र स्वयं श्रेष्ठ नहीं हैं, जो कर्कश तर्क का सम्पर्क न सह सके। किन्तु दर्शन-पद्धति से परीक्षित तत्वों का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र यदि कोई दो, चार विषयों मे तर्क-ग्राह्य न हों तो वह उनकी अयथार्थता का सूचक नहीं होता। धर्म-शास्त्र ही जव युक्तियों से परखा जाता है, तव वह दर्शन कहलाता है। धर्म-शास्त्र तत्वों का निरूपण करता है. दर्शन-शास्त्र उनकी परीक्षा करता है और उनके गुण दोषों की आलोचना करता है।

धार्मिक व्यक्ति श्रद्धालु होता है। वह समस्त आगम-वाक्यों को यथार्थ मानता है। वैसे 'आज्ञा-रुचि' वाले [आप्त पुरुष की वाणी में श्रद्धा रखने वाले] व्यक्ति वहुत ही थोड़े हैं। अधिकांशतः धार्मिक व्यक्ति भी 'विस्तार रुचि' वाले [प्रमाण पूर्वक तत्वों को समझने वाले] होते है, जो आगमोक्त तत्वों को भी 'ननु न च' पूर्वक स्वीकार करते हैं। दार्शनिक और धार्मिक व्यक्ति में यही भेद है कि – जहाँ तर्क स्खलित होता है, वहाँ वही सत्य है, वही शंका रहित है जो अर्हत् ने कहा है'—ऐसा कह धार्मिक व्यक्ति अपनी आत्मा को तोष देता है।

दार्शनिकश्च पुनर्युक्त्याऽसिद्धे पदार्थे न कुर्याद् दृष्टिनिक्षेपमपि ! दर्शनस्य मूलं परीक्षा। तत्र सा न गतिं लभते (नानाविरुद्धयुक्तीनां प्राबल्य-दौर्बल्यावधारणात्मको विचारो न प्रवर्तते), तत्र तन् प्रवृत्तिः स्यादात्मघातिनी। तेन वस्तुतः स्वभावो न दर्शनपरिधिं गतः।

धर्मदर्शनयोर्मूलं धर्मशास्त्रमेव। तदन्तरा दर्शनं किं परीक्षेत किमालोचयेच्च। कविर्न कवयेन्, तन् आलोचयेन् किमालोचकः। निराधारं दर्शनशास्त्रं स्याज्जलविलोड़नमिव। विभिन्नानि धर्मशास्त्राणि विभिन्नानि च दर्शनशास्त्राणि तत्र किन्नामकं सत्यमिति दुष्करः प्रत्ययः।

दर्शनिकाः स्वं स्वमेव धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य परीक्षायां प्रवर्तन्ते, यथा कथञ्चिन् तदेव साधयितुं बुद्धिमुपयुञ्जते। अमुना कर्मणापि धर्मशास्त्राणामभिलक्ष्यते प्राधान्यम्। धर्मशास्त्रप्रणेतॄणां व्यक्तिभेदेन स्वीकरणे न परिसमाप्यते विवादः। तन् सामान्यलक्षणे एव आग्रह उपशाम्यति। वीतरागोपदेश एव सम्यक् शास्त्रं भवितुमर्हः। किञ्च वीतरागो नान्यथा भाषी स्यात्। उक्तमपि च —

"रागाद् वा द्वेषाद् वा मोहाद् वा, वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोषा-स्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ॥"

नात्र केषामपि विवादवैधुर्यम्। कश्च वीतरागो नेति विषयो निःसंशयः। तद् वाण्या तन् प्रतीतौ न स्यादन्योन्याश्रयः। रागद्वेषरहितान् उपदेशान् दृष्ट्वैव वयं तदुपदेशकं मन्यामहे वीतरागम्। तद् वाणीमेव सम्यक् शास्त्रतया स्वीकुर्मः। स्वपरबुद्ध्या न विवेचयामः सत्यासत्यत्वम्। अपि चाह—

"स्वागमं रागमात्रेण, द्वेषमात्रात् परागमम्।
न श्रयामस्त्यजामो वा, किन्तु मध्यस्थया दृशा ॥"

दार्शनिक व्यक्ति युक्ति के द्वारा असिद्ध पदार्थ पर दृष्टि भी नहीं डालता। दर्शन का मूल है परीक्षा। जहाँ परीक्षा की गति नही होती (नाना विरुद्ध युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निश्चय करने वाला विचार प्रवृत्त नहीं होता) वहाँ दर्शन की प्रवृत्ति आत्मघातक बन जाती है। इसीलिए वस्तुतः स्वभाव दर्शन की परिधि में नही आता।

धर्म और दर्शन दोनों का मूल धर्मशास्त्र ही है। उसके बिना दर्शन क्या परीक्षा करे और क्या आलोचना करे ? यदि कवि कविता ही नहीं करता तो आलोचक क्या आलोचना करेगा ? आधार विहीन दर्शन-शास्त्र जल को मथने जैसा है। धर्म-शास्त्र अनेक हैं, दर्शन-शास्त्र भी अनेक हैं। वहां कौन सत्य है, यह विश्वास होना दुष्कर है।

दार्शनिक अपने-अपने धर्म-शास्त्र को ही आगे रखकर परीक्षा में प्रवृत्त होते हैं और ज्यों-त्यों उसी को साधने के लिए अपनी बुद्धि का उपयोग करते हैं। इस कार्य से भी धर्म-शास्त्र की प्रधानता दीखती है। धर्म-शास्त्र के प्रणेताओं का व्यक्ति-भेद स्वीकार करने पर विवाद समाप्त नहीं होता। उसके (धर्म-शास्त्र के) सामान्य लक्षणों को देखने पर ही आग्रह शान्त होता है। वीतराग का उपदेश ही सम्यक्-शास्त्र हो सकता है। क्योंकि वीतराग अन्यथा—भाषी नहीं होते। कहा भी है—

"राग, द्वेष या मोहवश झूठ बोला जाता है। जिसमें ये दोष नहीं हैं, उसके झूठ बोलने का कारण ही क्या हो सकता है ?"

इस तथ्य में किसी का विवाद नहीं है। कौन वीतराग है और कौन नहीं— यह विषय असन्दिग्ध है। वीतराग की वाणी के द्वारा वीतराग की प्रतीति करने में अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। राग द्वेष रहित उपदेशों को देखकर ही हम उनके उपदेष्टा को वीतराग मानते हैं। उसकी वाणी को ही सम्यक्-शास्त्र के रूप में स्वीकार करते हैं। 'यह अपना है, यह पराया है'—इस बुद्धि से सत्य और असत्य का विवेचन नहीं करते। कहा भी है—"हम अपने सिद्धान्त को रागमात्र से स्वीकार नहीं करते और न दूसरों के सिद्धान्त को द्वेषमात्र से अस्वीकार ही करते हैं। परन्तु मध्यस्थ दृष्टि से ऐसा करते हैं।

नात्रापि स्वकीयतापर्यनुयोगः समाधिमेधते। न्याय्यं तद् विपरीतञ्च प्रायो जनैः स्वनिर्णयानुसारमेव अधिगम्यते। एतस्य अन्यत् किमपि सुबोध-मुत्तरमस्तीति न प्रतीमो वयम्।

यत् किमपि भवतु, धर्मशास्त्रेषु ये ये समतांशास्तान् दृग्गोचरीकृत्य धर्मानुगाः परस्परं न विरोधमावहेयुरितिमात्रेणैव स्यात् सफलो दर्शन-प्रयासः। तत्त्वपरीक्षणे यदि गालिदानमेव फलादानमधिक्रियते, तदा दर्शनं धर्मप्रतिकूलं पन्थानमुपलभ्य अदर्शनं भवेत्।

धर्मिष्ठा धर्मं दर्शनप्रणाल्या परीक्षितुं प्रयतेरन् दार्शनिकाश्च धर्मं नाक्षिपेरन्। उभयोः सुन्दरः समन्वय एव भविष्यति फलदः।

यहाँ भी अपनेपन का प्रश्न समाप्त नहीं होता। व्यक्ति अपने निर्णय के अनुसार ही एक को न्याय-संगत और एक को उससे विपरीत मानता है। इसका इससे कोई सुबोध उत्तर हो, ऐसी प्रतीति हमें नहीं होती।

जो कुछ भी हो, धर्म-शास्त्रों में जो जो समता के अंश हैं उनको ध्यान में रखकर धार्मिक लोग परस्पर विरोध न करें—इसी में दर्शन के प्रयास की सफलता है। तत्त्व-परीक्षा का परिणाम यदि गाली देना ही हो तब तो धर्म के प्रतिकूल मार्ग को पाकर दर्शन अदर्शन हो जाए।

धार्मिक लोग धर्म का दर्शन की प्रणाली से परीक्षा करने का प्रयत्न करें और दार्शनिक व्यक्ति धर्म पर आक्षेप न करें। दोनों का सुन्दर समन्वय .ही फलदायी हो सकेगा।

२७—अहो धनविजृम्भितम्

अकृत्रिमं चलचित्रमिदं जगत्। नाभिनेतॄणां काचिद् गणना। अभिनया-नामपि कियन्तो विषय इति कलयितुं क संख्या। आयाति कश्चिद् गच्छति। कश्चिद् रोदिति हसति चापरः। एककः पतति उत्पतति चैकको दिवि। क्वचिद् वातूलः क्वचिन्न श्वासार्होऽपि पवनः। क्वचिन् कूलंकषा शैवलिनी कचिन्न कण्ठमार्द्रयितुमपि सलिलकणः। कस्यचित् सुखशय्या सुकुमारसुरभिकुसुमपेशला समस्ति संभृता सप्तभूमावावासस्य वातायने, कस्य चिन्नास्ति मञ्चकमात्री अपि पर्णकुटी। क्वचिच्छ्रूयमाण 'ममुकोऽजनि धनकुबेरः' इति क्वचिद् 'इभ्यस्य त्रुटितो धनराशिः इति मुखे-मुखे महान् निनादः। क्वचिदर्चना क्वचित्तर्जना. क्वचिद् न्यक्क्रियते दरिद्राणां ज्ञाति-नामपि सम्बन्धः स्वजनैः, क्वचिद् अपरचितनाम्नामपि धनिनामात्मना एकत्वमुच्चैरुद्घोष्यते स्वार्थिभिः।

हन्त! सुबन्धुरपि अस्यैव नाट्यगृहस्यासीत् कुशलकर्मा नाट्यकारः। तास्यांभिनवं व्यञ्जकविधिं नयनविषयीकृत्य तद्भगिन्यपि काञ्चिदपूर्वां शैलूषपदवीमादातुमुच्चकण्ठे। पटच्चरमुष्णीषम्, शतस्यूतिसंकुलं संव्यानम्, कन्थामधरीकरोति धौतम्, अनिरुद्धभूतलस्पर्शे उपानहौ, विच्छायञ्च वदनम् कथममुं भ्रातृरूपेण सत्यकृत्य स्याम् श्वसुरालये सखीजने वा परिहासधाम नाम!

२७—धन की महिमा

यह जगत् एक सहज चलचित्र है। अभिनय करने वाले असंख्य है। अभिनयों के भी कितने प्रकार हैं' यह बताने के लिए सख्या कहा है ? कोई आता है, कोई जाता है। कोई रोता है, कोई हंसता है। कोई एक गिरता है, तो कोई एक आकाश में उड़ता है। कहीं तूफान है तो कहीं श्वास लेने योग्य पवन भी नहीं है। कही कूलों को तोड़ने वाली सरिता है तो कहीं कठ को गीला करने के लिये जल की बूँद भी नहीं है। किसी के लिए सुकुमार और सुगन्धित फूलों की मृदु सुख-शय्या सत मंजिले मकान के गवाक्ष मे विछी हुई है तो किसी के लिये खाट समाए इतनी मात्र पूर्णकुटी भी नही है। कही पर सुना जाता है कि अमुक व्यक्ति धन-कुबेर हुआ है तो कही मुख-मुख पर यह शब्द सुना जाता है कि अमुक धनी की धनराशि टूट गई। कही अर्चना है तो कही तर्जना। कही स्वजन अपने ज्ञाति जनों के सम्वन्ध का भी तिरस्कार करते है, तो कही स्वार्थी लोग अपरिचित नाम वाले धनिकों के साथ एकत्व की उच्च स्वर से उद्घोषणा करते है।

खेद ! सुवन्धु भी नाट्यगृह का एक कुशलकर्मा नाट्यकार था। उसकी नवीन व्यञ्जना-विधि को देखकर उसकी वहिन भी किसी अपूर्व नट की पदवी को पाने के लिए उत्कठित हुई। फटी हुई पगड़ी, सैकड़ों स्थानों पर सिला हुआ उत्तरीय, कन्था को भी लज्जित करने वाली धोती, फटे हुए जूते, शोभाहीन मुख—ऐसे व्यक्ति का भाई के रूप में सत्कार कर मैं अपने श्वसुरालय अथवा सखियों में हास्यास्पद कैसे वनूँ ? (वहिन ने ऐसा सोचा)

"हञ्जे ! चेटि ! ग्रथिलाऽसि। क्व मे बन्धुः ? उन्मत्ते ! अन्धलासि मध्यन्दिने ललाटंतपेऽपि तपने नालोकसे। मन्ये, कृतवती सुरापानम्। दुराग्रहे ! अलं तव सेवया।"

"स्वामिनि ! किमपि कथय, कामं प्रसीद वा विषीद; स नूनमस्ति तवैव सोदरः।"

हा दैव ! विचित्रा तव गतिः। कीदृशीयं खलु लब्धा कर्मकरी मया सौभाग्यवत्यापि। इयं रणरणिकितास्ति दूषयितुं विपुलवैभवशालि मम पितृकुलम्। हले वयस्याः ! नेयमीषदपि ततः परिचिनोति। अयं खलु अस्ति मम पितृगृहे चुल्लीदीपकः। रे हठिनि ! गच्छ, परिभोजय यत्किञ्चिदपूपं, तक्रं तेमनञ्च। आमिति कृत्वा तया तथैव कृतम्। "हतविधिलषितानां ही विचित्रो विपाकः"—क्षीणं धनम्, विलीनमैश्वर्यम, सन्तापयति क्षुत्, दूरंगतः परिजनः, न मुखं दर्शयन्ति कौटुम्बिकाः। किमन्यत्, स्वसापि मां तिरश्चक्रे या सहोदरी हृदयमिव द्वितीयमासीत्, सा विधनस्य मम समूलकाषं कषति तत् सहसैव। धनेन सह किमु बन्धुत्वमपि व्यलीयत। कियदहं न्यषेधिषं स्वजायाम्। अरे ! मां मा प्रेरय तत्र गन्तुमस्यां विषमायां दशायाम्। 'विपदि स्वजनो न याचनीयः, इति नीतिविदां वाणीं किं नास्मार्षम्। किमहमस्यां पशुशालायां स्थित्वा एतद् विरसं भोजनं गृह्णे ? वरमतोमृत्युः। न सोढुमीशेऽवमानमीदृशम्।

उत्तस्थे। तामेव चरणचिह्नितां महीमनुस्पृशन् समाजगाम सोद्वेगं सवेगञ्चात्मनिलयम्। दृष्ट आतुरं चतुरया तत्प्रमदया। न तेन जगदे किमपि, न तया बुभुत्सितं किमपि। अपूर्वः स्याद् वार्ताविधिः कश्चिच्चतुरचेतसाम्। किञ्चिद् विश्रम्य पर्यालोचि स्वस्थचेतसा सुबन्धुना, अहो ! विचित्रो धनमहिमा। नास्य पुरतः कपर्दिकामात्रमपि मूल्यमर्हति मानवः। न महार्घ्यतामश्नुवते गुणाः। इदमृते श्लथन्ते निसर्गजा अपि सम्बन्धाः। भवन्ति सुहृदोऽपि मलिनहृदयाः। रे धिक् त्वाम्। इयत् कदर्थयसि बुद्धिवैभवसमृद्धमपि मानववर्गम्। चेतनावन्तमप्यमुं निष्प्राणयसि विचेतनः। असि त्वं तिरस्करणीयम्। न कांस्कान् तिरस्कारयसि, तदपि प्राप्तमसि सत्कारपदमिदानीमपि। हन्त ! जड़विजृम्भितम्। कथमतिक्रमणीया

हञ्जे ! चेटी ! तू पागल है । कहा है मेरा भाई ? उन्मत्ते ! तू अंधी है, मध्याह्न के सूर्य के प्रखर ताप में भी तू नहीं देखती । मानती हूँ, तू ने मदिरा पी है दुराग्रहे बस तेरी सेवा हो चुकी ।

स्वामिनि ! आप कुछ भी कहें, यह आपकी इच्छा है । प्रसन्न हों अथवा खिन्न, वह निश्चय ही आपका सहोदर है ।

हा भाग्य ! विचित्र है तेरी गति । सौभाग्यवती होते हुए भी मुझे यह कैसी दासी मिली है ? यह मेरे विपुल वैभवशाली पिता के कुल को दूषित करने के लिए उतावली हो रही है । सखियो ! यह दासी उसे थोड़ा भी नहीं पहिचानती । यह मेरे पिता के घर का रसोइयां है । अरी हठिनि ! जा, जो कुछ रोटी, छाछ, शाक-भाजी हो, उसे परोस ।

"हाँ, कह कर उसने वैसा ही किया ।

"भाग्य का विपाक बड़ा विचित्र होता है ।' धन क्षीण हो गया, ऐश्वर्य विलीन हो गया, भूख संतप्त कर रही है, परिजन दूर चले गए है, कौटुम्बिक मुंह नहीं दिखाते । और क्या बहिन ने भी मेरा तिरस्कार किया ? जो सहोदरी मेरे दूसरे हृदय जैसी थी, वह धन के चले जाते ही मेरे हृदय को सहसा कचोटने लगी है । क्या धन के साथ बन्धुत्व भी विलीन हो गया ? मैंने अपनी पत्नी को कितना टोका था कि अरी ! तू मुझे ऐसी विषम दशा में वहाँ जाने के लिए प्रेरित मत कर । 'विपत्ति में स्वजन से याचना नहीं करनी चाहिए—नीतिकारों की इस वाणी का मैंने स्मरण क्यों नहीं किया ? क्या मैं इस पशु-शाला में बैठकर यह विरस भोजन करूं ? इससे तो मृत्यु अच्छी है । ऐसा अपमान मैं नहीं सह सकता ।

वह उठा । उन्हीं चरणों वापस मुड़ा और चरण पृथ्वी को छूता हुआ उद्वेग के साथ शीघ्र ही अपने घर आ पहुँचा । उसकी चतुर पत्नी ने आतुरता से देखा । न उसने कुछ भी कहा और न उसकी पत्नी ने कुछ भी कहना चाहा । चतुर व्यक्तियों की वार्तों का प्रकार कोई विलक्षण होता है । थोड़ा विश्राम कर 'सुबन्धु' ने स्वस्थ चित्त से सोचा—"अहो ! विचित्र है धन की महिमा । इसके आगे मानव का मूल्य कौड़ी जितना भी नहीं है, गुणों का कोई मूल्य नहीं होता । इसके बिना नैसर्गिक सम्बन्ध भी श्लथित हो जाते है, मित्र भी मलिन हृदय वाले हो जाते है । धिक्कार है तुझे । बुद्धि-वैभव से समृद्ध मनुष्य-वर्ग की भी इतनी कदर्थना करता है ! चेतना-

स्थितिरियं सामाजिकी। विजानताऽपि नूनं दोषान्, अनन्यगतिना संग्रहणीय-मेवैतद्।

'उद्योग आवहति कर्मसु कौशलम्' इति प्रदेशं प्रति प्रतस्थे। 'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः'। सद्य एव समारब्धो व्यवसायः। निपुणमार्जिजन् प्रचुरं रायम्। किञ्चित्कालत एव प्राक्तनीं स्थितिमुपेत्य व्यवस्थाप्य सकलं कार्यकलापञ्च चचाल पुनः स्वदेशं प्रति। मध्येमार्गं नयनगोचरतां गता सैव नगरी यत्र वसति सहोदरी, यत्र च लिखिताऽस्ति अन्तर्गगनं सकला स्मृतिः। मदान्धेन तेन जनेन यदकारि तदकारि। किं तेन मम। मिलामि भगिन्या, मन्यानि बन्धुः पुनरपि। विशदयामि धनदर्शनेन तद्-दृष्टिम्। प्राहिणोद् भृत्यम्।

साप्यलब्ध भ्रातुरागमनसूचनाम्। ससंभ्रममारुरोह बालाग्रपोतिकाम्। बहुलपरिकरपरिवृत्तं स्वबन्धुमश्वरथारूढमायान्तमालोक्य हृष्टा। विस्मृत-पूर्ववृत्तेव स्वालीजनमाहूय अङ्गुलीनिर्देशपूर्वकं स्वभ्रातरं दर्शयामास। अभ्रं-लिहन्ती व्याजहार—"सख्यः! दृष्टम्, एष मम भ्राता। अरे! क्व गता सा दिनान्धा, या तं वराकमपि मम बन्धुरिति ऊचुषी"—इति संभाषणान्न विरता तावदेव सोऽपि तद् गृहदेशमुपेयिवान्। तदात्वमेव बहिरागता तमन्तर्वेश्म नेतुमभिललास कामम्।

न्यगादि तेन—"नाहं सम्प्रति तिष्ठासुरत्र। लघु जिगमिषामि स्वसद्मनि। पथि गच्छता व्यतर्कि—साक्षात्कुर्यां त्वामिति कृतमेव।

"बन्धो! किमिव जल्पसि, किमत्रागतोऽमुक्त्वैव गामी? किमिति युक्तम्? किमिच्छसि मां विलज्जयितुम्? पक्वमस्ति भोजनम्। अन्तरेहि, प्रसादं कुरु, भुङ्क्ष्व"।

हीन होते हुए भी तू इस चेतनावान् को निष्प्राण बना देता है। तू तिरस्करणीय है। किन-किन का तू तिरस्कार नहीं कराता, फिर भी तू अब तक सत्कार पद पा रहा है। हन्त ! यह जड़ की महिमा है। इस सामाजिक स्थिति का अतिक्रमण कैसे हो ? धन-संग्रह के दोषों को जानते हुए भी मुझे उसका संग्रह करना होगा, क्योंकि उसके विना समाज में कोई गति नहीं।

'उद्योग कर्म में कौशल लाता है'—यह सोच कर उसने परदेश को प्रस्थान किया। 'उद्योगी पुरुष के पास लक्ष्मी आती है'—यह सोच तत्काल उसने व्यवसाय प्रारम्भ किया। निपुणता से प्रचुर धन का अर्जन कर थोड़े समय में ही पहली स्थिति को पा, समस्त कार्य-कलाप की व्यवस्था कर, पुनः अपने देश को चला। वीच में वह नगरी दीखी, जहाँ उसकी सहोदरी रहती थी और जहाँ आकाश के वीच सारी स्मृति लिखी हुई थी। मदान्ध बहिन ने जो किया सो किया। उससे मुझे क्या ? वहिन से मिलूँ, पुनः उसका बन्धु भी बनूँ और धन के प्रदर्शन से उसकी दृष्टि को निर्मल करूँ ? उसने भृत्य को भेजा।

उसे (वहिन को) भी भाई के आगमन की सूचना मिली। सम्भ्रम के साथ वह अपने मकान की छत पर चढ़ी। वहुत परिकरों से परिवृत, घोड़ों के रथ पर आते हुये अपने वन्धु को देख कर वह प्रसन्न हुई। उसने अपनी सखियों को बुलाकर अंगुली के इशारे से अपने भाई को दिखाया, मानो कि पूर्वाचरण को भूल गई हो। आकाश को चाटती हुई वह बोली - „सखियो ! देखा, यह है मेरा भाई। अरे ! कहाँ गई वह दिनान्धा जिसने उस वराक को भी मेरा भाई कहा था।" इतना कहकर वह विरत नहीं हुई थी कि वह भाई भी उसके घर के पास आ पहुँचा। उसी समय वह बाहर आयी और उसको घर के अन्दर ले जाने के लिए बहुत अभिलाषा की।

भाई ने कहा—"मैं अभी यहाँ ठहरने का इच्छुक नहीं हूँ, शीघ्र ही अपने घर जाना चाहता हूँ। मार्ग में जाते हुए सोचा तुझसे मिलूं, सो मिल चुका हूँ।"

वहिन—बन्धो ! ऐसे क्या कहता है ? क्या यहाँ आकर बिना भोजन किए ही चला जायेगा ? क्या यह उचित है ? क्या तू मुझे लज्जित करना चाहता है ? भोजन पका हुआ है। अन्दर चल, कृपा कर भोजन कर।

"भगिनि ! दुर्निवारस्तवानुरोधस्तेन भोक्तव्यमेव । परं मां पशुशालं नय । नाहमत्र भोक्ष्ये ।"

"भ्रातः ! किमद्य जातम् । किमभिवाञ्छसि, किमुत्पीड़यसि माम् । विरम अनर्गलभाषणात् । पावय पवनपरिष्कृतानि माल्यानि ।"

"न सहोदरि ! अहं तु तत्रैव यास्यामि । तदेव ममोचितं स्थानम् ।" पुरःसरन् चपलगत्या प्रविवेश, तत्र निपसाद चैकत्र चत्वरे । साप्यनुधावन्ती स्वदुश्चरितं प्रस्मरन्तीव सम्मुखमासाञ्चक्रे सविषादम् । इतश्च स्वकर्मकरैरूपदीकृतं विविधपक्वान्नमयं भोजनं राजतेषु पात्रेषु परिवेष्य, बन्धुमनुरुरोध भोजनार्थम् । स च स्वभृत्यजनाऽऽनीतानि रुप्यकमुक्ताविद्रुममणिनिभृतानि पात्राणि पुरस्सरीकृत्य तान्यादिदेश भोजनाय ।

"बन्धो ! नूनमद्य ग्रथिलोऽसि संवृत्तः । किमेतान्यपि आहरिष्यन्ति ?"

"आम् भगिनि ! एतेपामधिकारगतं भोज्यमिदमन्यः को भुञ्जीत ?'

"पूर्णोऽसि ग्रहिलो जातः ।"

'नहि भगिनि ! न जातोऽस्मि मत्तः, सत्यं वच्मि । मां को जेमयेत् । सत्कारोऽयमेषाम् । स्वागतमिदमेपाम् । एषामेव प्रसादं मन्ये, येन पुनर्जातोऽस्मि तव बन्धुः । किमन्तर्गतं तद्दिनम्, यस्मिन् मां चुल्लीदीपकमाख्याय त्वसात्मानमलं तोपं नीतवती । सैवेयं पशुशाला, यस्यां मामुपस्थापयामास । उत्थाय, संकेतितां भूमिं खनित्वा भोजनशरावकमपि उपदीचकार स्वस्रे । सा तु जीवन्ती चापि समजनि मृतेव न लेभे वाणीं वक्तुम् । न लेभे दृष्टिं द्रष्टुम् । मुख्यमङ्गं न्यक्कुर्वन्ती भूप्रदेशं लिखन्ती यथाकथञ्चिन् तस्थुषी ।

"भगिनि ! लक्ष्मीरियं खलु वार्दलच्छाया । कदाचिन् कमपि प्रदेशमावृणोति, मुञ्चति कञ्चिदपरञ्च । कोऽभिमानोऽत्र, केयं मदान्धता, यतः स्वबन्धुरपि, अप्रत्याशितं तिरस्कृतो हि निर्धनः । न जाने परेषां निःस्वानां तु कियतीं करोषि विडम्बनाम् । भगिनि ! सुखमास्स्व, व्रजामि मन्दिरम् ।

भाई—बहिन ! तेरा अनुरोध मैं नहीं टाल सकता, भोजन करना ही होगा। परन्तु मुझे पशुशाला में ले चल। मैं यहाँ नहीं खाऊँगा।

वहिन—भाई ! आज तुझे क्या हुआ है ? क्या चाहता है तू ? मुझे क्यों पीड़ित कर रहा है ? अनर्गल भाषण को बन्द कर। हवा से परिष्कृत कमरों को पवित्र कर।

भाई—नहीं बहिन ! मैं तो वहीं जाऊँगा। वही मेरे लिए उचित स्थान है। आगे चलते हुए उसने चपल गति से प्रवेश किया और वहाँ एक ओर आंगन में बैठ गया। वह भी उसके पीछे दौड़ती हुई, अपने दुर्व्यवहार को भूलती हुई उसके सामने खिन्नता से बैठ गई। इधर उसके नौकर चाँदी के बर्तनो में विविध पकान्नमय भोजन रखकर ले आए। उसने भाई को भोजन करने के लिए अनुरोध किया। भाई ने अपने नौकरों द्वारा लाए गए रुपये, मोती, हीरे, मणि आदि से भरे हुए पात्रों को आगे कर उन्हें भोजन करने के लिए आदेश दिया।

बहिन—भाई ! आज तू निश्चय ही पागल हो गया है। क्या ये भी भोजन करेंगे।

भाई—हाँ बहिन ! यह भोजन इनके अधिकार का है, दूसरा कौन खायेगा ?

बहिन—तू पूरा पागल हो गया है।

भाई—नहीं, भगिनी ! मैं मत्त नहीं हुआ हूँ, सत्य कह रहा हूँ। मुझे कौन जिमाए, यह इनका सत्कार है, यह इनका सम्मान है। इनको ही कृपा मानता हूँ जिससे पुन: मैं तेरा भाई हो सका हूँ। क्या वह दिन भूल गई, जिस दिन मुझे रसोइयां कहकर बहुत ही सन्तुष्ट हुई थी। यह वही पशुशाला है, जिसमें मुझे बिठाया गया था। उसने उठकर संकेतित भूमि को खोदकर वह सिकोरा, जिसमें, उसे सूखी रोटी और छाछ परोसी गई थी, अपनी वहिन को भेंट किया। वह तो जीती हुई भी मृत सी हो गई। बोलने के लिए उसे वाणी नहीं मिली, देखने के लिए दृष्टि नहीं मिली। सिर को नीचा करती हुई, भू-प्रदेश को कुरेदती हुई, ज्यों-त्यों बैठी रही।

बहिन ! यह लक्ष्मी बादलों की छाया है। कभी किसी प्रदेश को आवृत्त करती है और किसी को अनावृत्त। यहाँ क्या अभिमान, क्या मदान्धता, जिससे अपना बन्धु निर्धन होने के कारण इस प्रकार तिरस्कृत किया गया, जिसकी आशा नहीं की जा सकती। न मालूम दूसरे निर्धन व्यक्तियों की तुम कितनी विडम्बना करती हो। बहिन ! सुख से रहो, मैं अपने घर जा रहा हूँ।

२८—संघर्षातीतम्

संघर्षः सामुदायिकजीवनस्यास्ति परिणामः। एकः सुखं जीवेन् वसेत्, यथेच्छं रचयेन्। को हि कथयिता, कश्च प्रश्नयिता, को नामादेष्टा, न संघट्टः, तत् कः खलु संघर्षः ?

संघर्षस्तत्र, यत्र किल भवन्ति स्वार्था इतरेतरं सङ्कीर्णाः समतिक्रान्ताश्च।

संघर्षस्तत्र, यत्र भवति विचाराणाममेलनीयो विभेदः।

संघर्षस्तत्र, यत्र भवति स्वस्यैव पोषणम्।

संघर्षस्तत्र, यत्र साधारणानामुपेक्षा।

संघर्षस्तत्र, यत्र अयोग्यस्य हस्तगता अधिकाराः।

संघर्षस्तत्र, यत्र पक्षपातिनां साचिव्यम्।

संघर्षस्तत्र, यत्र विसंस्थुला अव्यवस्थिता च कार्यपद्धति।

संक्षेपेण संघर्षस्तत्र, यत्राऽसाधुता। साधूनां कः संघर्षः। यत्र लक्ष्यं साधना, नावशिष्यते स्वार्थेन। स्वत्वपरत्वयोर्नास्ति काचिच्चिन्ता। न च साधारणासाधारणयोः कश्चिद् विभागः। न भूमी, न धनम्, न च राज्यम्, न च सत्ता। किमधिकरणीयम्? किञ्च हस्तगतीकार्यम्? आन्तरिकं बाहिरिकञ्च ग्रन्थिं परिहाय स्वमात्मानमुन्नेतुमनसो येऽनवरतं परिव्रजन्ति। किं विहरामि निश्चयदृष्टावहम्। किमुपचिता व्यावहारिकजीवनोचिता चर्चा मयाऽनया दिशा ?

संघबद्धे जीवने किमपि संभाव्यम्, यन् सर्वेऽपि पूर्वदर्शिताभिः स्थितिभिः स्वं विरहय्य कञ्चन विविक्तमध्वानमवचिनुयुः ? सुदुष्करम्। यद्यप्यावश्यकम्, तथापि सुचिरसाधनालभ्यम्। शास्त्रमुपदिशति—बहुषु वसन्नपि मुनिरेक एव वसेन्, रागद्वेषौ परिहरन् विहरेन्। स खल्वेकान्ततामुपगतोऽपि बहुपरिवृतः, यः स्याद् रागद्वेषपरिकरेण परिनिगडितः। हन्त ! हन्त ! विचित्रं परिलक्षिता एकता च बहुता च विद्वद्वरैः।

२८—संघर्षातीत

संघर्ष सामुदायिक जीवन का परिणाम है। कोई एक सुख से जिए, रहे, यथेच्छ आचरण करे, कौन है उसे कहने वाला, कौन है उससे प्रश्न करने वाला और कौन है उसे आदेश-उपदेश देने वाला।

संघर्ष वहाँ होता है :—

जहाँ एक दूसरे के स्वार्थ आपस में टकराते हैं।

जहाँ विचारों का सुदूर विभेद होता है।

जहाँ स्व का ही पोषण होता है।

जहाँ सामान्य की उपेक्षा होती है।

जहाँ अधिकार अयोग्य व्यक्ति के हाथ मे होता है।

जहाँ पक्षपात होता है।

जहाँ कार्य-पद्धति अव्यवस्थित और विसंवादी होती है।

सक्षेप मे सघर्ष वहाँ होता है, जहाँ असाधुता है। साधुओं के क्या संघर्ष—जहाँ लक्ष्य है साधना, कोई स्वार्थ शेष नही, अपने और पराये की कोई चिन्ता नहीं, साधारण और असाधारण का कोई विभाग नहीं, न भूमि है, न धन है, न राज्य है और न सत्ता। आन्तरिक और बाह्य ग्रन्थि को त्यागकर अपनी आत्मा को उन्नत करने के इच्छुक जो (मुनि) अनवरत विहरण करते है, उन्हें किस पर अधिकार करना है, क्या हस्तगत करना है ? क्या मैं निश्चय दृष्टि में विहरण कर रहा हूँ, क्या मैंने इस दिशा से व्यावहारिक जीवनोचित चर्चा प्रस्तुत की है।

संघ-बद्ध-जीवन मे क्या यह सम्भव है कि सभी व्यक्ति पूर्व दर्शित स्थितियों से अपने आपको अलग कर किसी एकान्त पथ का अनुसरण करे ? यह सुदुष्कर है। यद्यपि यह आवश्यक है फिर भी चिर साधना से लभ्य है। शास्त्र उपदेश देता है—बहुतों मे रहता हुआ भी मुनि अकेला रहे, राग-द्वेष को छोड़कर विहरण करे। वह (मुनि) एकान्तता को पाकर भी बहुतों से घिरा है, जो राग-द्वेष के परिकर से बंधा है। हन्त ! हन्त ! विद्वानों ने एकता और बहुता को विचित्रता से परिलक्षित किया है।

व्यवहारोऽन्ततो व्यवहारः, न भेययुः साधवः खलु तन्मयाः। नोपेक्षणीय आत्मा। अन्ये चैनमुपेक्ष्यापि गन्तुमर्हेयुः, किन्तु साधुभिर्नैत तर्कणीयमपि। "अप्पा हु खलु सययं रक्खियव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाइएहिं' इति मुहुरूपदिष्टं शास्त्रकारैः, न तु स्वार्थं प्रधानीकृत्य पादौ प्रक्षेप्तव्याविति निगदितमपि मनाक्।

"पूयणट्ठा जसो कामी, माणसम्माणकामए।
बहु पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वई॥"

इति वचनमपि न केवलं वाचां चातुरीमुपन्यस्तुमेव नाहमुपदिशामि केवलमपरान्, किन्तु स्वं सम्बोधयन्नेव संकलयामि द्वित्रान् शब्दान्।

मनः स्थितिरियं जटिला वहूनि धत्ते रूपाणि। कदाचिद् गच्छति शमं यत्तद् गच्छति कदाचिद् क्षममपि। वातावरणं पादतलीकृत्य विजिहीर्षाऽपि पुनः प्रेरयति सामान्यां स्थितिमास्प्रष्टुम्। कष्टं स्पृष्टं जानीमो वयम्, न खलु विशेषाधिकारैरात्मा कामपि प्रोन्नतिं वहतीति। अधिकारा वस्तुतः सन्त्यौपाधिकाः। अधिकाराय यदि स्फुरति मतिस्तन् किमर्थं मौनमाश्रितम्। किन्न योद्धव्यं राजनीतिक्षेत्रे। तत्रास्याश्चर्याया एव साम्राज्यम्। मम नम्रमते साधानाक्षेत्रेऽधिकाराणां चर्चैव भयावहा। सर्वे स्वं स्वमधिकुर्युरित्येव श्रेयस्करम्। अन्योन्यमधिचिकीर्षति तन् खलु बहिरात्मनो हि विलसितम्। आचार्या अपि केवलं व्यवस्थाहेतवः, संघनियमावलिं नोल्लङ्घेरन् केऽपीति कामं भवन्ति, किमन्यन् ते प्रवर्तन्ते।

इत्यपि सत्यम्—पूजां प्रतिष्ठां पदञ्च न स्पृहयेयुः केचन। येन यल्लभ्यम्। तत् स्वयं लप्स्यते। शासनदृष्ट्या आत्मदृष्ट्यापि उभयथाऽप्येतदावश्यकम्। किन्तु यदा पूजायाः प्रतिष्ठायाः किञ्चिन्महत्त्वं दृष्टौ नृत्येन्, तदा शास्त्रवाक्यानि व्यवहारपाठेन विलुठितानि जायेरन्, न संशयम्। साधवो नूनं नीतिनिपुणास्तेन नात्र पदं न्यस्तुमपि प्रयासमाश्रयन्ति। तथापि कारणजातानि न जायेरन्नित्येव वरम्। एतदर्थमेवाऽस्माकमार्यैः श्रीभिक्षुस्वामिभिर्मर्यादीकृतम्—साधवः ? आचार्याणां मर्यादासु मनोयोगं कुर्वाणाः संवसेयुरिति। आचार्याः स्वयमेव क्षेत्रं कालञ्च विज्ञाय कार्यजातं सम्पादयन्ति, किञ्च तेऽनुभवन्ति स्वमुत्तरदायित्वम्। तत्र सन्देहो न प्रयोजकः।

व्यवहार अन्ततः व्यवहार है। मुनि व्यवहारमय न हों। उन्हें आत्मा की उपेक्षा नही करनी चाहिए। दूसरे इसकी उपेक्षा करके भी चल सकते हैं, किन्तु साधुओं को इसकी तर्कणा भी नहीं करनी चाहिए। सभी इन्द्रियों को सुसमाहित वना आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। इसका उपदेश शास्त्रकारो ने बार-बार दिया है और कही यह भी कहा है कि 'स्वार्थ को प्रधान वना नही चलना चाहिए।'

"जो पूजार्थी है, यशःकामी है, मान, सम्मान की कामना करता है, वह बहुत से पापों को जन्म देता है, मायाशल्य करता है।" इस वाणी का भी केवल वचन की चतुरता दिखाने के लिए ही दूसरों को उपदेश नहीं दे रहा हूँ, किन्तु अपने आपको सम्वोधित करता हुआ दो, तीन शब्दों का सकलन कर रहा हूँ।

मन की यह जटिल स्थिति है। यह अनेक रूप धारण करती है। जो कभी शान्त होता है, वह कभी क्षुब्ध भी होता है। वातावरण को रौंदकर उसको छोड़ने की इच्छा भी सामान्य स्थिति का स्पर्श करने के लिए पुनः प्रेरित करती है। खेद है कि हम (यह) स्पष्ट जानते हैं, विशेषाधिकारों से आत्मा प्रोन्नत नही होती। अधिकार वस्तुतः औपाधिक हैं। यदि अधिकार के लिए वुद्धि स्फुरित होती है तो मुनि क्यों वने? राजनीति के क्षेत्र मे क्यों नही लड़े? वहाँ इसी (अधिकार की) चर्चा का साम्राज्य है। मेरा यह नम्र अभिमत है कि साधना के क्षेत्र मे अधिकारो की चर्चा ही भयकर है। सभी अपने आप पर अधिकार करें—यही श्रेयस्कर है। जो दूसरो पर अधिकार करना चाहता है, वह बहिरात्मा है। आचार्य भी केवल व्यवस्था के लिए है। संघ की नियमावली का कोई उल्लंघन न करे, यह उनका कार्य है और वे क्या करते हैं?

यह भी सत्य है, पूजा-प्रतिष्ठा और पद की कोई इच्छा न करे। जिसे जो मिलना है, वह उसे स्वय मिलेगा। शासन की दृष्टि और आत्म-दृष्टि—इन दोनों दृष्टियों से यह आवश्यक है। परन्तु जव पूजा और प्रतिष्ठा का कुछ महत्व आंखों में नाचने लगे, तब शास्त्र-वाक्य व्यवहार-पाठ से विलुठित हो जाए—इसमें संशय नही है। साधु निश्चय ही नीति-निपुण होते है। वे यहाँ पादन्यास करने के लिए प्रयास नही करते। फिर भी कारण-सामग्री उत्पन्न ही न हो—यह अच्छा है। इसीलिए हमारे आचार्य श्री भिक्षु स्वामी ने यह मर्यादा की कि साधु आचार्यों की मर्यादाओं में मनोयोग से रहें। आचार्य स्वयं ही क्षेत्र और काल को जानकर कार्य करते है क्योकि उन्हें अपने उत्तरदायित्व का अनुभव होता है। वहाँ सन्देह

'न सन्देहास्पदं गुरव' इति नासारमुक्तमभिजातेन। साधवः खलु त्यागं-प्रतिमूर्तयः सर्वं त्यक्त्वा विहरन्ति। ते मानापमानयोः पूजाप्रतिष्ठायां सत्कारे चैव स्वमनो निवेश्य सततं तत्र ध्यायेयुः, किन्न स्यात्तद् आर्त्तध्यानम् ?

सम्बोध्यमेतदस्माभिः—साधनाया मार्गो विनोदस्य मार्गो नास्ति, न च दुराग्रहस्यापि। तत्र तस्यैव महात्म्येन भाव्यम्, यस्य साधना यावती वलवती, यस्य च ज्ञानदर्शनचारित्राणि यावन्ति प्रोज्वलन्ति। अस्माकं ध्यानं न नामात्मविकाससम्मुखीनम्, केवलं वाह्यप्रपञ्च एव रमेत किमस्माभिर्बुद्धमपि स्वलक्ष्यम्। किं स्यात् साधनामभिलपमाणस्य तत्र सन्तुष्टिः। एतदप्यनर्थकम्, महदनर्थकम्, यत् पराधिकारानाक्षिपन्तोऽपि स्वयमधिकारान् करतलीकर्तुं सततमुच्छ्वसेत्। जघन्येयं प्रवृत्तिर्न साधुजनोचिता। अस्माकं कृते नूनं समतैव साधीयसी। भगवता महावीरेण धर्मस्य मूलं प्रतिपादितं 'समतैव'। सौहार्दस्य, पारस्परिकप्रेम्णः, शाश्वतिकसद्भावनायाः कारणमपि च समतैव। समतेति सर्वेऽपि सामान्यप्रकारेषु मनः शान्तिमनुभवेयुः। अत्रैव सार्थकं भवति 'समत्वं योग उच्यते' इति गीतावाक्यम्। इयं भूमिकाऽस्ति सर्वसंघर्पातीता। तत्र कः संघर्पः, यत्र साधनाया वलम्, यत्र तपस्यायाः प्राधान्यम्।

करना प्रयोजनीय नहीं है। "गुरु सन्देहास्पद नहीं होते—यह उक्ति सारहीन नहीं है। साधु त्याग की प्रतिमूर्तिया है, वे सर्वस्व का त्याग कर विहरण करते है। यदि वे मान, अपमान, पूजा-प्रतिष्ठा और सत्कार में अपना मन लगाकर उनका सतत ध्यान करते रहें तो क्या वह आर्त्तध्यान नही होगा ?

यह हमें समझना चाहिए कि साधना का मार्ग विनोद का मार्ग नही है और न दुराग्रह का भी। जिसकी साधना जितनी वदलती है; जिसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र जितने उज्ज्वल हैं, वहाँ उसी साधक को महत्त्व मिलना चाहिए। हमारा ध्यान आत्म-विकास के सम्मुख नहीं हो, केवल वह वाह्य प्रपंच में ही क्रीड़ा करता रहे तो क्या हमने अपना लक्ष्य भी समझा है ? क्या वहाँ साधना करने के इच्छुक व्यक्ति को संतोष होता है ? यह भी अनर्थकारी है, महान् अनर्थकारी है कि दूसरों के अधिकारों का तिरस्कार करते हुए भी स्वयं अधिकारों को हस्तगत करने के लिये सतत उच्छ्वास ले। यह जघन्य प्रवृत्ति साधु जनोचित नही है। हमारे लिये समता ही अच्छी है। भगवान महावीर ने समता को ही धर्म का मूल वताया है। सौहार्द, पारस्परिक प्रेम शाश्वतिक सद्भावना का कारण भी समता ही है। समता का का अर्थ है—सभी व्यक्ति सामान्य प्रकारों मे मानसिक शान्ति का अनुभव करें। यही 'समत्वं योग उच्यते' गीता का यह वाक्य सार्थक होता है। यह भूमिका सब संघर्षों से अतीत है। वहाँ क्या संघर्ष हो, जहाँ साधना का बल और तपस्या का प्राधान्य है।

२६—हृदयं परिवर्तयन्ताम्

एकवारमनेकशो वा दुर्बलाः किङ्कराः शिशवश्च हठात् प्रेरिता भयावेश-वशंदा यत् किञ्चित् कुर्युरेव किन्तु अन्ततो गत्वा तस्य प्रतिक्रिया अनिष्टफला संप्रपद्येत, अन्तिमो निर्णयः कुपरिणाम एव भवति। तेन हठप्रयोगेण बालान्, यूनो, ज्यायसोऽल्पमतीन् व्यक्तमतीन् यान् कानपि वा मा विवशीकुरुध्वं किमपि कलयितुम्। यदस्ति खलु कारयितव्यम्, तस्यावश्यकतामनुभावयत उपयोगिताञ्च प्रबोधयत। यतस्ते स्वयमेव अहंपूर्विकया स्वानुष्ठातव्येऽनु-ष्ठानमतिमारचयेयुः।

२६—हृदय को बदलो

एक बार या अनेक बार हठ से प्रेरित दुर्बल, किंकर बालक, भय और आवेश के वशीभूत होकर जो कुछ भी कर लेते हैं किन्तु अन्त में उसकी प्रतिक्रिया अनिष्ट फल देने वाली होती है। उसका अन्तिम निर्णय बुरे परिणाम वाला होता है इसलिए बल—प्रयोग से बालक, युवक, बूढ़े, अल्प बुद्धिवाले या अधिक बुद्धिवाले जिन किन्हीं को भी कुछ, करने के लिए विवश मत करो। जो कराना है, उसकी आवश्यकता का अनुभव कराओ और उसकी उपयोगिता को समझाओ। जिससे कि वे स्वयं ही 'पहल मेरी हो' की भावना से अपने कर्त्तव्य मे कर्त्तव्य-बुद्धि का निर्माण करे।

३०—अमरत्वान्वेषणम्

मातः ! किमिमानि सन्ति गीयमानानि गीतानि, निर्झरन्माधुर्याणि, श्रुतिसुखदानि, सुधानिपातसन्निभानि, सुकुमारस्वरोपबृंहितानि, हृदयाह्लादसमुद्भवानि। क्व तानि गीतानि, यानि इदानीमेव मुहूर्तं प्राक् कर्णातिथीकृतानि। अधुनातनानि किल विलापपटूनि कर्णकटूनि दुन्वन्ति मृदुलमन्तःकरणम्, द्वैधीकुर्वन्ति हृदयम्। जननि ! रहस्यमिह किमपि।

वत्स ! अज्ञोऽसि, न वेत्सि हार्दम्। श्रृणु, श्रावयामि साम्प्रतम्। अस्माकं प्रतिवेशिनः समजनि नूनमेको तनूजः। तदानीं प्राक्तनानि मङ्गलध्वनिसमुज्जृम्भितानि गीतान्यगायिषत सुभागिनीभिः। विचित्रा कर्मणां गतिः। मुहूर्तानन्तरमेव अभूदुल्कापातः, सुकोमलकमलवनेतुपारापातः, आकस्मिकः कश्चिद् वज्राघातः, अमङ्गलं मङ्गले कलयितुमिव तं नवजातमेव शिशुमाहार्षीद् मृत्युः। ततो वत्स ! परितो भवति कुटुम्बिनां परिवेदनम्, क्व नाम गीतानि। प्रक्षिप्तदन्ताङ्गुलिः—अह अम्ब ! इदानीमुत्पन्न इदानीमेव व्यापन्नः।

माता प्राह—'किं चित्रम्, य उत्पत्स्यन्ते, ते विपत्स्यन्ते।'

सत्यं किमिदं मातः ! तदानीं किमहमपि मरिष्यामि। नूनं कोऽत्र सन्देहः दुःखदारुणोऽयं तर्हि संसारः, ज्वालाशतकरालोयं जन्ममरणदावानलः।

मातः ! अस्ति किमपि त्राणमस्य ? समस्ति वत्स ! सकलभयत्राता भगवान् नेमिनाथः।

तर्हि तमेव शरणं प्रपत्स्ये—इति समागच्छति समवसरणम्।

३०—अमरत्व का अन्वेषण

मां ! ये गीत क्यों गाए जा रहे हैं, जिनमें से माधुर्य टपक रहा है, जो श्रुति सुखद है, अमृत तुल्य है, सुकुमार स्वरों से परिपुष्ट हैं, हृदय के आल्हाद से उत्पन्न हुए हैं।

मां ! वे गीत कहाँ हैं, जिन्हें अभी एक मुहूर्त्त पहले सुना था, अभी के ये विलाप पटु और कर्णकटु गीत मेरे मृदुल अन्त करण को संतप्त करते है और हृदय के दो टूक टूक करते हैं। मा ! क्या कोई रहस्य है, यहाँ ?

मां—पुत्र ! तू अज्ञ है, हार्द नहीं जानता। सुन, अभी सुनाती हूँ। हमारे पड़ोसी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। उस समय सुहागन रमणियों के द्वारा पहले वाले मंगल-ध्वनि से उठे हुए गीत गाए गए थे। कर्मों की गति विचित्र होती है। मुहूर्त्त के वाद ही उल्कापात हुआ, सुकोमल कमल के बन में तुषारपात हुआ, आकस्मिक कोई वज्राघात हुआ, मंगल में अमंगल करने की तरह उस नवजात शिशु को मृत्यु ने उठा लिया। इसलिए वत्स ! चारों ओर कुटुम्बियों का विलाप हो रहा है, गीत कहाँ हैं ?

वत्स—(दाँतो तले उँगली दबाकर)—ओह मा ! अभी जन्मा और अभी मर गया ?

माता—क्या आश्चर्य है—जो जन्म लेते है, उन्हें मरना ही होता है।

वत्स—मा ! क्या यह सच है ? तो क्या मैं भी मरूँगा ?

माता—हाँ, निश्चय ही, इसमें क्या सन्देह है ?

वत्स—तो यह ससार दुःख से दारुण है, जन्म-मरण का दावानल सैकड़ों ज्वालाओं से भयकर है। मा ! क्या कोई त्राण है ?

माता—हाँ, है वत्स ! भगवान् नेमिनाथ सकल भयों से त्राण देने वाले हैं।

वत्स—तो मैं उनकी ही शरण लूंगा—यह कह कर वह भगवान् के समवसरण में चला जाता है।

३१—लेखनी

चलिताऽस्ति लेखनी। किं स्रावो भविष्यतीति नालोचिषि किञ्चन। आलोचयाम्यपि किम्? कृष्णमुखीयं समजनि द्वैतमभिगृह्णन्ती श्वेत-कायेकालिमानमङ्कयन्ती कां कां न कुटिलतामाचचार कुटिलेयम्। तदपि असद्भिरिव सद्भिरपि स्वीकृतेयम, किमिति कारणम्? हृदयं उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति अनन्ता भावलहर्यः। वक्तारो जल्पन्ति, श्रावयन्ति श्रावकान्। कः संगृह्णीत? वक्तुर्भवति वाग् विकीर्णा, श्रोतुश्च स्मृतिपटावतीर्णा। ऊर्ध्वंदमास्यो वक्ता, उत्कर्णश्च श्रोता। नम्रता क्व? नम्रानना रचितशीर्षासना खल्वियं संगृह्णाति वाचो विचारकाणामप्यविचारकाणाम्। न कोऽपि पक्षपातः। सर्वरसपरिणता, समभावं श्रिता न द्रवति दुःखे, न च भवति स्नेहस्निग्धा सुखे, अहसन्ती हासयति रोदयति चारूदन्ती। चपला सती चपलयति, तत्र न किमपि चित्रम्। इति श्रूयते विविधानि पक्वान्नानि स्पृशन्ती चापि दर्वी न रसास्वादमनुभवति किञ्चनापि। किमाश्चर्यम्? जड़ानां सदृशी गतिः। सतां कराङ्गुलीलालिता, सकलचैतन्यसमुत्थभावाभिव्यञ्जनपरापीयं कदा समभवच्चेतनावती। अवगुणं प्रति नाकृष्टेत्यपि किमु नाम न विशेषता? यथा कथयति तथा नाचरतीत्युद्बोधयितुमिमामेव साधनतया व्यवहरन् मनीषी किं स्वमपि तां कक्षां न प्रापयन्? वर्षसहस्रेणाऽविरलं गच्छति, नालब्ध स्थगनम्, तथापि न थक्किता। कथं थक्केत् नवनवेषु मनीषिमस्तिष्कयानेष्वारूढा, व्यूढैर्गूढैर्विचारश्रमिकैर्विशोधितमार्गा, अविरलं पिबन्ती मषीम्? वरं जातम्, अभूदियमचेतना, तेनैव यथेष्टमेनां व्यापिपर्ति मतिमान् मानवः। चेदेषा अभविष्यच्चैतन्यधर्मा तत् सङ्कोचमन्वभविष्यत् किञ्चिदेषाऽपि।

३१—लेखनी

लेखनी चल पड़ी है। इससे क्या टपकेगा, यह कुछ भी नही सोचा। सोचूं भी तो क्या? द्वैत का आग्रह (इसका मुँह चीरा हुआ होता है) करती हुई यह कृष्णमुखी हो गई है। श्वेत शरीर में कालिमा को अंकित करती हुई इस कुटिला ने किस-किस कुटिलता का आचरण नही किया। तो भी दुष्ट व्यक्तियों की तरह सज्जनों ने भी इसे स्वीकार किया—इसका क्या कारण है? हृदय में अनन्त भाव-लहरियाँ उठती है, डूबती हैं। वक्ता बोलते है, सुनने वालों को सुनाते है। कौन संग्रह करे? वक्ता की वाणी विकीर्ण होती है, श्रोता के स्मृति पट पर अवतीर्ण हो जाती है। मुँह ऊँचा लिए वक्ता बोलता है, कानों को खड़ा किए श्रोता सुनता है। कहाँ है नम्रता? यह नीचे मुख वाली लेखनी, शीर्षासन किए हुए विचारकों के और अविचारकों के भी विचार ग्रहण करती है। कोई भी पक्षपात नहीं है। सभी रसों में परिणत समभाव का आश्रय लिए यह दुःख में द्रवित नहीं होती और न सुख मे स्नेह-स्निग्ध होती है। यह विना हँसते हुए भी हँसा देती है और बिना रोते हुए भी रुला देती है। यह चपल होती हुई भी दूसरों को चपल वनाती है, उसमें आश्चर्य ही क्या? यह सुना जाता है कि विविध पक्वान्नों को छूती हुई भी कड़छी कोई भी रस का आस्वाद नही लेती।

इसगे क्या आश्चर्य है? जड़ पदार्थों की गति सदृश होती है। विद्वान् व्यक्तियों की करागुली से लालित, समस्त चैतन्य से उठे हुए भावों की अभिव्यक्ति करने वाली यह लेखनी क्या कभी चेतनावती हुई है? यह अवगुणों के प्रति आकृष्ट नहीं हुई, क्या यह विशेषता नही है? जैसा कहती है, वैसा नहीं करती—यह समझने के लिए इसीको (लेखनी को) साधन रूप से व्यवहृत करते हुए मनीषी ने क्या अपने आपको भी उसी कक्षा में ला दिया? हजारों वर्षों से यह अविरल चल रही है, कभी स्थगित नही हुई, तो भी यह थकी नहीं है। कैसे थके—यह नये-नये मनीषियों के मस्तिष्क रूपी यान पर आरूढ़ है, विशाल और गूढ़ विचार रूपी श्रमिकों ने उसका मार्ग साफ कर दिया है और यह स्याही को अविरल पी रही है। अच्छा हुआ, यह अचेतन है, इसीलिए बुद्धिमान् मानव इसका यथेष्ट प्रयोग करता है। यदि यह सचेतन होती तो मनुष्य भी कुछ संकोच अनुभव करता।

दिनस्य पूर्वाह्णे लिखति यो यथा यस्य गुणगाथाम्, अपराह्णे च स एव तयो तामुन्मूलयितुमुल्लिखेत्, या सम्बध्नाति जीवनम्, सैव सूचयेत् कदाचन विसम्बन्धवृत्तम्—इति कीदृशम्। हिटलरोऽलिखत्पत्रमास्ट्रियाराष्ट्रपतिं प्रति, महात्मा गान्धिश्चापि हिटलरं प्रति। अविवेकिना साधनेन किं कस्य न प्रवृत्तिर्यथेप्सिता। इच्छामि सकृदेनां न स्पृशाम्यपि कराभ्याम्। स्वमनोगतान्, भावान् मनस्येव करोमि सुरक्षितान्, न तान् परिष्वज्येत बहिस्तनः पवनोऽपि, न च तान् द्रष्टुमर्हेच्चटकोऽपि। पुनर्विचारयामि, एषोऽभिसन्धिः कियच्चिरं स्थास्यति, रुद्धा अपि विचाराः कियन्तं सहिष्यन्तेऽवरोधम्। अन्तः संघर्षमापन्ना न जाने ते कदा कथं बहिर्भवेयुः। सर्वैराचीर्णं पुराणैः नवीनैः, विवर्णैः, लब्धवर्णैः, महद्भिः, लघुभिश्च तत् किं ममैव तत्र दोषो नाम कश्चित्। सर्वैः कृतमिति करोमि, तन् किं समस्ति मम पृथक् सत्त्वम्? सर्वैः कृतमित्येव न करोमि, तत् स्यान्मम दुरभिमानः। यदहं करोमि, तन्न तथा कुर्वन्ति सर्वेऽपीति चिन्तनमपि ममानधिकारचेष्टा। नात्रापि गतिः। द्रुतं भवति मानसमन्तर्द्वन्द्वेन।

लिखामीति नात्र कश्चन विरोधः। नैव लिखामीति नास्त्याग्रहः। कथमेनामुपयुञ्जे—इत्यत्रैव विप्रतिपत्तिरखिला। इत्यत्रैव द्वैतम्। अरे किं त्वमभिगृह्णासि द्वैतेऽद्वैतताम्। परिस्रावोऽपि च परिग्रहो भवति द्वैते हि। द्वयमुखीयमुभयत्रापि उभयपक्षयोरपि स्यादनुगृहीता तत्र किं तव। नैकेनैव मुखेन संकलयति सतीमसतीञ्च शब्दसन्ततिम्। कार्यनिर्वाहकुशला विरोधिनाऽपि सन्दधीत, तत् किम्? धन्यो नाम सार्थपतिः किन्न सम्मानितवान् स्वपुत्रहन्तारमपि विपुलैरशनपान-खाद्यस्वाद्यादिभिः।

संयोगमूला दुःखपरम्परा जगति। अत एव मुनिर्भवति संयोगाद् विप्रमुक्तः। नासादितवतीयं संयोगं किं खलु तत् मलिनाम्बुनि स्यादस्या मुखक्षेपः किञ्चन सहेत नैकशो लवित्र-प्रहारम्।

दिन के पूर्वार्द्ध में जो व्यक्ति जिस लेखनी के द्वारा जिसकी गुण-गाथा लिखता है, वही अपराह्न में उसी लेखनी के द्वारा उस गुण-गाथा का उन्मूलन करने के लिए लिखे, जो जीवन का सबन्ध बनाती है, वही कभी सम्बन्ध तोड़ने की सूचना दे—यह कैसा है ? हिटलर ने आस्ट्रिया के राष्ट्रपति को पत्र लिखा, महात्मा गाँधी ने हिटलर को पत्र लिखा। विवेकहीन 'साधन के द्वारा कौन' क्या मन चाही प्रवृत्ति नहीं करता। मैं चाहता हूँ कि इसका एक बार भी हाथों से स्पर्श न करूँ। अपने मनोगत भावों को मन में ही सुरक्षित रखूं, उनको बाहर की हवा भी न छू सके, एक चिड़िया भी उनको देख न सके। पुनः सोचता हूँ। यह अभिसन्धि कितने काल तक रहेगी, अवरुद्ध विचार भी कितना अवरोध सहन करेंगे ? अन्तर् में संघर्ष को प्राप्त हो, वे न जाने कब और कैसे बाहर निकल आयें। सभी ने, पुराने व्यक्तियों ने, नवीन व्यक्तियों ने, मूर्खों ने, विद्वानों ने, बड़ों ने, छोटों ने—इसका आचरण किया है, तो क्या यहाँ मुझे ही कोई दोष होगा ? सभी ने किया, इसीलिए करता हूँ, इसमें क्या मेरी पृथक् सत्ता है ? सभी ने किया, इसलिए न करूँ—यह मेरा दुरभिमान होगा। जो मैं करता हूँ, उसको दूसरे सब वैसे नहीं करते—यह चिन्तन करना भी मेरी अनधिकार चेष्टा है। यहाँ भी गति नहीं है। अन्तर्द्वन्द्व से मन विचलित हो रहा है।

'मैं लिखता हूँ'—इसमें कोई विरोध नहीं है। नहीं ही लिखना, ऐसा आग्रह नहीं है। इस (लेखनी) का उपयोग कैसे करूँ—इसीमें सारा विरोधात्मक चिन्तन है। यही द्वैत है। अरे ! क्या तू द्वैत में अद्वैत का आग्रह कर रहा है। परिस्राव और परिग्रह द्वैत में ही होता है। (लेखनी का मुँह चीरा हुआ होता है, इसीलिए वह स्याही को लेती है और छोड़ती है) दो मुँह वाली यह दोनों ओर—उभयपक्ष—से अनुगृहीत होती है, वहाँ तेरा क्या है ? एक ही मुँह से अच्छी और बुरी शब्द-संतति संकलन नहीं करती। कार्य-निर्वाह में कुशल यह विरोधियों के साथ भी सन्धि करले तो क्या ? क्या 'धन्य' नामक सार्थपति ने अपने पुत्र-घातक को भी विपुल अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य से सम्मानित नहीं किया था ?

संसार में दुःख की परम्परा संयोग मूलक है। इसीलिए मुनि संयोग से विप्रमुक्त होता है। यदि यह (लेखनी) संयोग को प्राप्त नहीं होती तो क्या स्याही में इसका मुख-क्षेप होता ? और क्या यह अनेक बार चाकू के प्रहार को सहन करती ?

३२—बन्धनम्

अये सलिल ! कियन्तं कलयामि तव विवेकमहिमानम् । किञ्चिच्छीतल-सुखस्पर्शलोलुपं त्वमद्य सरोरुहाणां सारस्यं हरसि । परं यदाऽमूनि विच्छा-यानि भावीनि, तदा भविता तवैवानुतापः । मतिमन् ! उचितमुपालभसे परं निद्रयेव जडतया वशीकृतोऽहं नैतज् ज्ञातुमपि शक्तिमुपाददे । नैतत् सम्भावनीयमायुष्मतो यदहं जानन्नपि स्वायत्तं खल्वेतादृशं कर्म रचयेयम् । न ज्ञायते साम्प्रतं मम प्रत्यङ्गं कियाँल्लसति कष्टानुभवः । यानि महोत्पलानि मामाश्रितानि सततं सुषमामधिगतानि तानि लप्स्यन्ते वैरस्यमिति किन्न मम चिन्तास्पदम् ।

परन्तु एतस्यां दशायामपि मम समुज्जृम्भते कश्चिदभिनवः सुखलेशो यदिमानि कोमलानि कमलानि पारवश्येन जातां मे क्षतिं हृदि अवधार्य न काञ्चन तत्तुल्यां क्षतिमाचरिष्यन्ति अपितु मां सन्मार्गे प्रेरयिष्यन्ति पुनरपि नवनवैः पल्लवैरिति ।

३२—बन्धन

अरे सलिल ! तेरे विवेक की महिमा का कितना आकलन करूँ । थोड़े से शीतल सुख-स्पर्श का लोलुप होकर तू आज कमलों की सरसता का हरण कर रहा है । परन्तु जब ये शोभाहीन हो जाएंगे तब तुझे ही अनुताप होगा ।

मतिमन् ! ठीक उलाहना दे रहे हैं । परन्तु जड़ता ने मुझे नींद की तरह वश में कर लिया है, इसलिए यह जानने की भी मुझमें शक्ति नहीं है । ऐसी आपको आशंका नहीं करनी चाहिए कि मैं जानता हुआ भी स्वतन्त्रता से ऐसा कार्य कर रहा हूँ । आप नहीं जानते, अभी मेरे प्रत्येक अंग में कितना कष्टानुभव हो रहा है । जो कमल मेरा आश्रय लेकर निरन्तर सुषमा को पा रहे थे, वे विरसता को प्राप्त होंगे—यह क्या मेरे लिए चिन्तास्पद नहीं है ?

किन्तु इस दशा में भी मुझमें कोई एक नया सुख का कण विकसित हो रहा है कि ये कोमल कमल परवशता से हुई मेरी क्षति को हृदय में धार कर वैसी ही कोई क्षति का आचरण नहीं करेंगे अपितु नए-नए पल्लवों के द्वारा मुझे पुनः सन्मार्ग की ओर प्रेरित करेंगे ।

३३—अनन्या संपत्

सम्माननीयाः सतीर्थ्याः ! अस्मत्पूर्वाचार्याणां तदनुयायिमुनिवराणां च कां कां मतिं वयं स्तुमः। ते स्वविशदनीत्या सम्यक् प्रतीत्य यद् यद् व्यधिषत, तत्तत् अद्यतनानां धिषणाधनानामप्यस्त्यगम्यम्। सोऽयं खलु सकलस्तत्प्रभाव एव सकलं विलोक्यते यन्नानाचारविचारकरम्बितान्यपि मस्तिष्कानि समीभवन्ति गुरुचरणारविन्देषु। सर्वे सन्तो महान्तो लघीयान्सो वा सोल्लासं कुसुमीकुर्वन्ति गुरुवरादेशम्। गुरुवरश्च तान् पश्यति स्वावयवानिव। परस्परञ्चापि समे मुनयो विशुद्धं प्रेम परिवर्धयन्तो मोदन्ते दर्शं दर्शमेकमेकम्। सौभ्रात्रं द्रढयन्तो निरन्तरमुल्लासयन्ति एकत्ववेलाम्। भिक्षुगणे रचयन्तोऽध्यात्मलीलामारोपयन्ति जैनशासनस्य शिरसि सौवर्णकलशम्। ऐदंयुगीनकलहमात्सर्यपरापवाददूषितवातावरणे भुवस्तले विहरन्तोऽपि नहि कलुषयन्ति स्वकीयां परिस्थितिम्। एकस्य यस्य कस्याऽपि सतो महिमानं स्वकीयमिव मन्वानाः, स्वश्लाघां शासनप्रशंसां विदाना अधरीकुर्वन्ति विविधजगति विश्रुतं जगदैक्यम्।

ऐक्यव्रताः ! ऋषयः ! वृषभा इव धुरीणा यूयमस्याः परमसम्पदः कलयतोपभोगम्, साधयत सदाध्यात्मयोगम्, पालयत गुरोरनुशासनम्, प्रशस्तीकुरुध्वं हितासनम्। भाग्यशालिनो यूयं भवत जगति सम्पदुदाहरणम्। सुखान्वेषिणो जनाः सृजन्तु तदनुकरणम्।

३३—अनन्य सम्पदा

सम्माननीय साधर्मिको !

हमारे पूर्वाचार्य और उनके अनुयायी मुनिवरों की किस-किस मति को हम स्तुति करे। उन्होंने अपनी विशद नीति से सम्यक् जानकर जो-जो किया, वह आज के विद्वानों के लिए भी अगम्य है। यह सारा उनका ही प्रभाव है कि विभिन्न आचार-विचार युक्त मस्तिष्क भी गुरु-चरणों में समीकृत हो जाते हैं। बड़े या छोटे सभी सन्त गुरुवर के आदेश को उल्लास से कुसुम की तरह स्वीकार करते हैं। गुरुवर उनको अपने अवयवों की तरह देखते है। परस्पर भी सभी मुनि विशुद्ध प्रेम को बढ़ाते हुए एक-एक को देखकर मुदित होते हैं; भाई चारे को दृढ़ करते हुए निरन्तर एकत्व की वेला को उल्लसित करते हैं, भिक्षुगण में अध्यात्म-लीला को करते हुए जैन-शासन के शिखर पर सुवर्ण कलश चढ़ाते हैं। इस युग के कलह, मात्सर्य और परापवाद से दूषित वातावरण में विहरण करते हुए भी वे अपनी परिस्थिति को कलुषित नहीं करते।

जिस किसी भी सन्त की महिमा को अपनी महिमा मानते हुए, शासन की प्रशंसा को अपनी श्लाघा जानते हुए विविध स्थानों में विश्रुत जगत् की एकता को फीकी बना देते है।

साथियो ! मुनियो ! तुम वृषभ की भाति धुरीण हो। इस परम सम्पदा का उपभोग करो, सद्द अध्यात्म-योग को साधो, गुरु के अनुशासन का पालन करो और इस हितकर पीठ को प्रशस्त करो। तुम भाग्यशाली हो, जगत् में सम्पदा के उदाहरण बनो। सुख का अन्वेषण करने वाले लोग उसका अनुकरण करे।

३४—नागराजेन सह

अनन्तकीर्तेर्धाम अवामकृतिर्नाम आचार्यभिक्षुः काममविराममैक्षिष्ट दिशं स्वशिष्यस्य विनयपटीयसः परिष्ठापनाय बहिः प्रदेशं प्रस्थितस्य। किमिदम् ? किमिदम् ? व्यतिक्रान्ता इयती वेला न वलसे भारमल ! किमिति कारणम् ?

साशयं साश्चर्यं किमभूश्चिन्तनपरः, गच्छन् स्वाध्यायादिकं सम्यग् वर्जयसीति कुतो भवेद् विलम्ब ?

निशीथिन्यामनाच्छादिते स्थाने न निर्निमित्तं तिष्ठेन् मुनिः - इति कल्पविद् न स्वप्नेऽपि कल्पमुल्लङ्घसे, तत् खलु को हेतुरनागतेः।

संयमधर्मस्य परिशीलनार्थं धर्मगुरोश्चेतोवृत्ति-समाराधनार्थञ्च विहाय पितुरपि सङ्गमङ्ग ! मामनुव्रजन् न रज्यसि कुहाऽपि निश्चितम्, किन्तु तन्निमित्तमागमविलम्बनस्य, प्रतीक्षाविवृद्ध कलेवरस्य। आह्वये उत गच्छामि स्वयमुत्थाय निरीक्षणाय भयमालाकुले जिनायतनपरिसरे।

३४—नागराज के साथ

अनन्तकीर्ति के धाम और अनुकूलकृति वाले आचार्य भिक्षु बहिः प्रदेश में परिष्ठापन के लिए गए हुए अपने विनीत शिष्य की दिशा को बार बार देख रहे थे।

यह क्या ? यह क्या ? इतना समय बीत चुका, भारमल ! तू नहीं आ रहा है ? क्या कारण है ?

एक आशय और एक आश्चर्य के साथ—क्या तू चिन्तन करने लग गया ? तू चलते हुए स्वाध्याय आदि का सम्यक् वर्जन करता है, फिर विलम्ब कैसे हो ?

'रात्रि में अनाच्छादित स्थान में मुनि बिना कारण न रहे'—इस कल्प को जानने वाला तू स्वप्न में भी कल्प का उल्लंघन नहीं करता तो भला वापस नहीं आने का क्या हेतु है ?

"संयम-धर्म का परिशीलन करने के लिए और धर्म-गुरु की चित्त-वृत्ति का सम्यक् आराधन करने के लिए पिता के संग को छोड़कर भी तू मेरे पीछे चला आया। यह निश्चित है कि अन्यत्र कहीं भी तू प्रसन्न नहीं रह सकता। प्रतीक्षा से जिसका कलेवर बढ़ गया हो, उस आगमन के विलम्ब का क्या निमित्त हो सकता है ? पुकारूं अथवा स्वयं उठकर भयजनक जिन-मन्दिर के समीप उसको देखने जाऊँ।"

आदाय रजोहरणमतुलसाहसो भूमितलं परिमार्जयन् महामना मुनिनायको विनेयो गुरुशासनमिव स्वशिष्यपथमनुगच्छन् ददर्श मृदुस्वरमुच्चरन्तं प्रणिपातप्रणतोत्तमाङ्गं निर्भयमानसवेलं प्रलम्बकायकृष्णभुजङ्गमपरिवेष्टितसुरभिचरणचन्दनपादपं कामपि विलक्षणां ध्यानमुद्रां परिस्पृशन्तं हृदयमन्दिरमध्यमध्यासितं स्वशिष्यम्। आर्या! नागन्तुमर्हामि किञ्चिन् कारणमुपेत्य चरणसरोजयोरन्तिकमार्याणाम्, तन् क्षमणीयोऽयमार्यमूर्धन्यैर्धन्यपथाध्वन्यैरनन्यमहिमशालिभिः।

समीपमुपसृत्य निखिलमपि घटितं नयनविषयीकृत्य नागराजं सम्बोधयन्तो मधुरमाचार्याः सरसां वाचमुपाददिरे हृदयान्तरं स्पृशन्तीम्—नागराज! कोऽयं विधिर्भवतः? अस्ति खलु रात्रि-वेला, प्रसृतं परितोऽपि घोरातिघोरं तमः, शेरते घोरनिद्रं दशापि दिशः। हसन्ती प्रसृमरकिरणमिषेण विकचदन्तपंक्तिकं ताराः, फुत्कारमाचरन्ति फेरवः, भीमं घोषयन्ति घूकाः, न बहिर्विचरन्ति मानवाः, लपन्ति अनन्यविहारा विपुलवक्षः स्थला अपि पन्थानः, न देहलीमपि उलङ्घन्ते कातराः, सशङ्कचेतसो जायन्तेऽपि वीराः, आकर्णितभयानकवृत्ता अपि निद्रानिमीलितलोचनाः प्रलपन्ति, केचन धावन्ति, अवतरन्ति केचन सोपानमार्गेण, दृढमुद्वध्नन्ति केचन बाहुलतिकया अचलस्थितानपि स्तम्भान्, खल्वेतादृशे विभीषिकां मूर्तिमतीं रचयति समयेऽमुं बालमुनिं पादयोः स्पृशसि, भापयसि, करोषि निरुद्धगतिकम्, किमिति युक्तम्?

यद्यस्माकं स्थित्या दुनोति भवच्चेतः, तद् वयमन्यत्र स्थानमन्वेषयामः। लोकैरत्रत्यैरेवाऽस्माभिर्निर्हेतुकं सापत्न्यमाचरद्भिर्वर्षाकालव्यतिगमनाय निरदेशि आस्पदमिदम्, तेनैव सौहृदं संसृजन्तो वयमिह सुखमकृष्महि निवासं चातुर्मासिकम् न वयमिति कामयामहे कथमपि यदस्मन्निवासेन केषामपि स्यान् स्वात्म-विघातः। यद्यपहृतं भवति भवत्स्वातन्त्र्यम्, तन् कथनीया एते सर्वसत्वतापिनो वयं साधवः। नास्मद्योगाद् दुतं भवतु कस्यापि मानसम्। प्राणान्तेऽपि सन्तो न रचयन्ति स्वप्रवृत्त्या परपीडनम्।

वे अतुल साहसी महामना मुनिनायक रजोहरण को लेकर भूमितल का परिमार्जन करते हुए अपने शिष्य के मार्ग के पीछे चले, जैसे विनीत शिष्य गुरु की आज्ञा के पीछे चलता है। आचार्य ने अपने उस शिष्य को देखा, जो मृदु स्वर से उच्चारण कर रहा था, नमस्कार के लिए जिसका शिर झुका हुआ था, जिसका मन भय-मुक्त था, जिसका चरण रूपी सुरभि चन्दन वृक्ष प्रलम्बकाय काले साप से परिवेष्टित था, जो किसी विलक्षण ध्यान मुद्रा का स्पर्श कर रहा था, जो अपने आचार्य के हृदय-मन्दिर के बीच बैठा था।

शिष्य ने कहा—आर्य ! मैं किसी कारणवश आपके चरण-कमल के समीप आने में असमर्थ हूँ। धन्य पथ के पथिक ! अनन्य महिमाशाली ! आर्य-मूर्घन्य ! आप मुझे क्षमा करें।

समीप जाकर समस्त घटना को देखकर नागराज को मधुर सम्बोधन करते हुए आचार्य ने सरस और हृदय को छूने वाली वाणी में कहा—नागराज ! तुम्हारी यह क्या विधि है ? रात्रि की बेला है, चारों ओर घोरातिघोर अन्धकार छाया हुआ है, दशो दिशाएँ घोर निद्रा में सोई हुई हैं, तारे प्रसरणशील रश्मियों के छल से मुक्तहास कर रहे हैं, सियार फुफकार रहे है, उल्लू भयानक घोष कर रहे हैं, मनुष्य बाहर नहीं आ रहे हैं, लम्बे चौड़े मार्ग भी जनशून्य हो रहे हैं, कायर व्यक्ति देहली का भी उल्लंघन नहीं करते, शूरवीर भी शंकित हो जाते है, भयानक वृत्तों को सुनने के पश्चात् जिनकी आँखे नीद से मूंदी गई, वे प्रलाप कर रहे है, कई दौड़ते हैं, कई सीढ़ियों से नीचे उतरते हैं, कई अचल स्तम्भों को भी अपनी बाहु-लता से दृढ़ बाँध लेते हैं, विभीषिका को मूर्तिमान् करने वाले ऐसे समय में इस बाल मुनि के पैरों को छू रहे हो, डरा रहे हो, उसका गतिरोध कर रहे हो, क्या यह उचित है ?

यदि हमारे यहाँ ठहरने से तुम्हारा दिल दुखता है तो हम कहीं और स्थान का अन्वेषण करें ? यहाँ के लोगों ने किसी हेतु के बिना ही हमारे साथ शत्रुता का आचरण करते हुए हमें वर्षावास बिताने के लिए इस स्थान का निर्देश किया है। इसीलिए सौहार्द्र की सृष्टि करते हुए हमने यहाँ सुख से चातुर्मासिक निवास किया है। हम यह कामना नही करते कि हमारे रहने से किसी का भी आत्म-विघात हो। यदि आपकी स्वतन्त्रता का अपहरण होता हो तो हमें कहें। हम सब जीवों की अनुकम्पा करने वाले साधु हैं। हमारे योग से किसी का भी मन न दुखे। प्राणान्त में भी सन्त अपनी प्रवृत्ति से दूसरों को पीड़ा नहीं देते।

'णमो अरिहंताणं' जपन्तः पूज्यपादाः क्षणं तस्थुः। शिथिलवेष्टनः पन्नगोऽपिअवतीर्य पादपादपयोरलं महीतलमलञ्चक्रे।

सशिष्यमाचार्याः स्वस्वाध्यायभूमिमाययुः, सोऽपि ययौ कमप्यलक्षितमध्वानम्। वयसा शिशोर्धैर्येण प्रवयसो गुरुगौरवस्याऽऽत्मनोऽन्तेवासिनो निर्भयमुज्ज्वलमाकलय्य परमां मुदमूहुराचार्याः।

"तेजो यस्य विराजते स बलवान्,
स्थूलेषु कः प्रत्ययः।"

इति साक्षात् साधितं दृढसन्धेन मनस्विना मुनिवरेण भारमलेन। कृतमीर्यापथिकम्, कृतश्चतुर्विंशतिस्तवो गुरुर्विनेयश्च 'मुणिणो सया जागरंति' इति कृतार्थं कुर्वाणौ किञ्चित्कालं स्वाध्यायमग्नौ आस्यामारचयामासतुरनुभवसुखाम्।

आसाद्य सद्गुरोरादेशमानन्दकरं सत्वरं शयनमनुससार अनुशासनसारो लघुकृतात्मभारो विनेयवरः।

आत्मबलसहायो निरपायो विशदकायो निर्मायो महामुनिरेकाकी काञ्चन पदावलीं लीलया ध्यायन् गुहायामिव केसरी निश्चिन्तचेता, योगीव ध्यानलीनस्तिष्ठति, तावदकस्माद् रचितसुन्दरवेशः, संयतकेशः, विगतावेशः, विराजितमुखसरसिजहास्यलेशः कश्चिन् कमनीयकान्तिरात्मानमदर्शयत्। सोऽहं नागराजो विज्ञपयामि भवते सुखं स्थेयमत्रेतिप्रमुखेन संवादेन रात्रिरगमत्।

'णमों अरिहंताणं' का जाप करते हुए पूज्यपाद क्षण भर के लिए ठहरे। सर्प भी अपने वेष्टन को शिथिल कर चरण-वृक्ष से उतर पृथ्वी पर आ गया।

आचार्य अपने शिष्य के साथ अपनी स्वाध्याय-भूमि में आए। वह (सर्प) भी किसी अलक्षित मार्ग पर चला गया। वय से शिशु और धैर्य से वृद्ध महान् गौरव-शाली अपने अन्तेवासी के निर्भय मन को देखकर आचार्य को परम हर्ष हुआ।

'जो तेजस्वी है वही बलवान् है, स्थूल होने मात्र से क्या' इस तथ्य को दृढ़प्रतिज्ञ, मनस्वी, मुनिवर भारमल ने साक्षात् साधा। उन्होंने ईर्यापथिक और चतुर्विंशतिस्तव किया। गुरु और शिष्य 'मुनि सदा जागृत रहते हैं'—इसको कृतार्थ करते हुए थोड़े समय तक स्वाध्याय में मग्न होकर अनुभव-सुखात्मक स्थिति में बैठे रहे।

सद्गुरु का आनन्द कर आदेश पाकर शिष्य, अनुशासन ही जिसके जीवन का सार था और जो अपने भार को हल्का किए हुए था, शीघ्र ही सो गया।

वे महामुनि जो आत्मबली, निर्दोष, विशदकाय और निश्छल हैं, अकेले ही किसी पदावली का आनन्दपूर्वक ध्यान करते हुए गुहा में केसरी को तरह निश्चिन्त चित्त और योगी की भाति ध्यान लीन होकर बैठे हुए हैं। उस समय अकस्मात् सुन्दर वेष और संयत केश वाला,आवेश रहित मुख-कमल पर मुसकान धारण किए हुए कहा किसी कमनीय कान्तिवाले व्यक्ति ने अपने आपको प्रकट किया! वह मैं नागराज आपको निवेदन करता हूँ कि आप यहाँ सुख से रहें।

इत्यादि संवाद से रात्रि बीत गई।

३५—युवा शिक्षकः

(शिक्षा-प्रारम्भः)

स्मरामि सुमधुरां वि० सं० १९८७ माघ शुक्लां दशमीम्। स्मरामि करुणाप्लावितहृदयस्य श्रीकालोरमलचरणकमले सम्पन्नं मम दीक्षासंस्कारम्। स्मरामि श्रीतुलसीमुनेश्चरणसदेशे आचारविचारशिक्षणसम्बन्धिनं सद्गुरोरादेशम्। न तत्त्वं विदितमासीन् किन्तु तनुरासीत् पुलकिता। महामुनेरुदारा प्रवृत्तिः शिशुहृदयमपि मां स्वमिव व्यधात्। स्वल्पेनैव वासरेण मां प्रतिलेखनप्रतिक्रमणकार्ये स्फूर्तिमनैषीत् महामनाः। सत्क्रियायामपि स्फूर्तेरुपदेशो महानभिलषितः आसीत्। षोडशवर्षीयस्य शिक्षकस्य योग्यां चातुरीं निरीक्ष्य विद्यार्थि-मनसि या स्थितिरुदलसन्, सा काचिदपूर्वैव। अतः प्रागपि केचिच्छिशुसाधवः अत्र शिक्षार्थिनोऽभूवन्। परन्तु परिस्थितिवशात् तेषामध्ययनपरम्परा न पूर्णतामगमत्। मन्येऽहं स्थायिरूपेण अहमेव प्रथमो विद्यार्थी अभूवम्। ततः षड्वर्षीये शिक्षाकाले १९८७-१९९३ पर्यन्तं पञ्चदश-षोडश साधवः शिक्षामलप्सत। सर्वेषामपि लघीयसां रत्नाधिकानां वा मुनीनां दृष्टौ पूर्णं व्यलषत सम्मानम्। वर्षीयांसोऽपि कञ्चिद् गौरवपूर्णं संकोचमन्वभवन्निति मया साक्षादनुभूतमनेकधा। अनुशासनशक्तिरचकादमुष्य नैसर्गिकी। प्रायोऽस्माकं शिशुसाधूनां मानसं एतद् भ्रूभङ्गदर्शनमात्रेण कियद् भयाकुलं भवदासीदिति शब्दागोचरम्। चपल-प्रकृतीनां बालानामध्ययने तदानीं सम्यक् प्रवृत्तिरुपलभ्यमाना, यदा सोपानमार्गे महात्मन आगमनसंकेतमपि वयमलप्स्महि। हृदयशून्यमनुशासनं श्रद्धाशून्यञ्च भयं स्यान्न किञ्चित्करम्। सौभाग्यं मन्ये—अस्मान् प्रति शिक्षकस्य

३५—युवा-शिक्षक

विक्रम सं० १९८७ के माघ शुक्ला दशमी की मधुर स्मृति हो रही है। याद है मुझे करुणार्द्र हृदय श्रीमद् कालुगणी के पवित्र चरण-कमलों में सम्पन्न मेरा दीक्षा संस्कार। याद है मुझे तुलसी मुनि के चरणों मे बैठकर आचार-विचार का शिक्षण लेने का सद्गुरु का आदेश। मैं उसके आशय को नहीं जानता था, फिर भी मेरा शरीर पुलकित था। में शिशु-हृदय था, फिर भी महामुनि की उदार प्रवृत्ति ने मुझे अपना सा वना लिया। महामना मुनिवर ने मेरे प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण में कुछ ही दिनों में स्फूर्ति ला दी। सत्क्रिया में भी स्फूर्ति का उपदेश अभिलषणीय था। षोड़शवर्षीय युवा-शिक्षक की योग्य चातुरी को देखकर विद्यार्थी-हृदय में जो स्थिति उत्पन्न हुई वह कुछ अपूर्व ही थी। इससे पहले भी कई बाल-साधु इनके पास शिक्षा-ग्रहण करते थे। परन्तु परिस्थिति वश उनकी अध्ययन परम्परा पूर्ण नहीं हुई। मै मानता हूँ कि स्थायी रूप से पहला विद्यार्थी मैं ही था। छह वर्ष के शिक्षा-काल में (१९८७-१९९३) पन्द्रह-सोलह साधुओं ने शिक्षा प्राप्त की। छोटे-बड़े सभी मुनियों की दृष्टि में आप सम्मानित थे। मैंने अनेक बार यह साक्षात् अनुभव किया कि अधिक आयु वाले मुनि भी आपके सामने गौरवपूर्ण संकोच का अनुभव करते थे। आपमें अनुशासन-शक्ति नैसर्गिक थी। आपके भ्रू-भंग के दर्शन मात्र से हम शिशु मुनियों के मन कितने व्याकुल हो जाते थे, यह शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता। सोपान-मार्ग से आते हुए शिक्षक का सकेत पाकर चपल प्रकृति वाले हम बाल-साधु तत्काल अध्ययन में लग जाते। हृदय-शून्य अनुशासन और श्रद्धा-शून्य भय कार्यकर नहीं होते। मैं यह सौभाग्य मानता हूँ कि हमारे प्रति शिक्षक का

अन्यूनमासीद् वात्सल्यम्, आर्यं प्रति चास्माकम-विकलाऽऽसीद् भक्तिः। कः कृतज्ञः प्रस्मरेद् यद् महामना स्वममूल्यं समयं स्वकीयमावश्यकं कार्य-कलापञ्चोपेक्ष्य अस्माकं शिक्षायै अत्यर्थमयतिष्ट। अस्मिन् कर्मणि हार्दिक-भावना एव कारणम्। अन्यथा किं प्राप्यमाणमासीद् वेतनम्, किं सिद्धयन्ना-सीत् स्वार्थः। "परोपकाराय सतां विभूतयः" इति कृतार्थमिव।

श्रीकालोः प्रत्यक्षमधिकारे महात्मनः शिक्षण-व्यवस्था प्रस्तुता समासीत्। उपरितननिरीक्षणकार्यं संसारपक्षीयज्येष्ठसहोदरा मुनिचम्पालालस्वामिनः अकार्षुः। तैरसकृत् 'त्वं समयं बहुलमर्पयसि परेभ्यः' इति प्रोक्ताः, अमी सविनयमिदमपि कार्यं स्वकीयमेवेति समाधिपत! परानपि स्वीकर्तुं यादृशी प्रवृत्तिरुपलब्धा भवत्सु तादृशी दृश्येत विरलेषु। अध्ययनाध्यापनकार्यद्वयं कुर्वाणा गुरोरनन्तं प्रसादं संचिन्वाना अपि कचिन्नावलेपं सदकार्षुः। मुनि-धर्मोचितां निरभिमानतामश्नुवाना अपि चेतोवृत्तिजयेन स्वाभिमानस्य-मर्यादां नात्यवाहयन् क्वचनापि! आत्मीयोऽयमनुभवः यद् नैषां पुरतः प्रहासं कर्तुमशक्यम् ये केऽपि। कौतूहलादिकं न स्वयमाचारिषुर्न च परेऽ प्याचरितुमार्हन्। १६८६ ज्येष्ठे आषाढ़े वा न निश्चितं स्मरामि अस्ति तारानगर (रीणी) घटना। अहञ्च बुद्धमल्लश्च द्वावपि नाममालावाचनं प्रारप्स्वहि। तदानीं तस्यां 'पेढालः पोट्टिलश्चापि' इति पद्यमायातम्। आव-योस्तादृशस्याद्भुतोच्चारणस्य पद्यस्य कौतुकमिव संवृत्तमिति बहुनिरुद्धमपि हास्यं प्रादुरभूत्। सकृन्निरुद्धयोरपि तन्न संवरणमलब्ध ईषदपि। तदात्वमेव निरुद्धं वाचनम्। आवां च विसर्जितौ। प्रायः दशपंचदशादिनपर्यन्तं वाचन-कार्यं स्थगितमेव अचलत्। आवाभ्यां बहुप्रार्थिताः प्रणतोत्तमाङ्गाभ्यां निवे-दिताश्च तदा पुनर्वाचनं स्वीकृतम्। मन्येऽहम्—बहुकथने, बहूपालम्भे विश्वासो नासीत्, कार्यरूपेण प्रसाधिते दण्डे आसीदास्था। तेनैव अनुशासना त्मकं भयं स्थितिं प्रापत् शिक्षार्थिषु।

अन्यून वात्सल्य था और आर्य के प्रति हमारी अविकल भक्ति। कौन कृतज्ञ व्यक्ति यह भूल जायगा कि महामना मुनि अपने अमूल्य समय और अपने आवश्यक कार्य-कलापों की उपेक्षा कर हमारी शिक्षा के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील रहते थे। हार्दिक भावना ही इसका कारण है। अन्यथा उन्हें क्या था? न कोई वेतन मिलता था और न कोई स्वार्थ ही सधता था? परन्तु 'महान् व्यक्तियों की सम्पदा परोपकार के लिए होती है'—मानों यह कृतार्थ हो गया।

महामुनि की शिक्षण व्यवस्था श्री मद्द कालुगणी के सान्निध्य में चल रही थी और अन्य उपरितन निरीक्षण आदि कार्य संसार पक्षीय ज्येष्ठ भ्राता मुनि श्री चम्पालालजी करते थे। उन्होने अनेक वार इन्हें कहा—

'तू दूसरो को अपना अधिक समय देता है'—

आप विनयपूर्वक यह कहकर समाधान देते कि यह कार्य भी तो अपना ही है। दूसरों को अपनाने की जैसी प्रवृत्ति आपमे उपलब्ध थी वैसी विरल व्यक्तियो में ही मिल सकती है। अध्ययन और अध्यापन दोनों कार्य करते हुए तथा गुरु के अत्यन्त कृपापात्र होते हुए भी कभी अभिमान नहीं करते थे चित्तवृत्ति के विजय से साधुजनोचित्त निरभिमानता को पाकर भी आप स्वाभिमान की मर्यादा का कहीं भी त्याग नहीं करते थे। मेरा यह अपना अनुभव है कि आपके सामने कोई भी हास्य नहीं कर सकते थे। आप स्वयं न कभी कुतुहल ही करते थे और न दूसरे ही आपके सामने कुतूहल करने का साहस करते थे। मुझे ठीक ठीक याद नहीं-१९८९ का ज्येष्ठ अथवा अषाढ़ का महीना था। तारानगर की एक घटना है। मैं और मुनि बुद्धमलजी दोनो ने नाममाला का वाचन प्रारम्भ किया। उस दिन उसका एक पद 'पेढाल पोटिट्ल्लश्चापि' ऐसा आया। उसका अद्भुत उच्चारण हमारे लिए कौतुक हो गया। इसलिए बहुत रोकने पर भी हंसी फूट पड़ी। एक बार रोकने पर भी वह हँसी थोड़ी सी भी नहीं रुकी। उसी क्षण हमारा वाचन बन्द कर दिया गया। हमे वहाँ से विसर्जित कर दिया। प्रायः १०-१५ दिनों तक वाचन स्थगित ही रहा। हम दोनों ने बहुत प्रार्थना की, नत मस्तक हो बार बार निवेदन किया। तब महामुनि ने हमें पुनः पढ़ाना स्वीकार किया। मैं मानता हूँ कि आपको बहुत कहने और बहुत उलाहना देने में विश्वास नहीं था। आपकी आस्था सक्रिय दण्ड मे थी। इसीलिए विद्यार्थियों में अनुशासनात्मक भय था।

बहुवारं तु वयं यथार्थमपि प्रकाशयितुं नालिङ्ग्ष्मि सामर्थ्यम्। वयं नेत-स्ततः कचिद् गन्तुम्, कैश्चिद् वार्तां कर्तुम्, हास्यविनोदादिकञ्च विधातुं स्वतन्त्राआस्म इति खिन्ना अभूम एकस्मिन् दिने किञ्चित्। अहं बुद्धमल्लश्च आवां मिलित्वा सरदारशहरचातुर्मास्यनिशायां प्रहररात्रिसमागमनवेलायां पूज्ये शयनपट्टे विराजमाने अगमाव। आचार्यचरणयोः प्रणिपत्य स्खलद्-वाण्या प्रार्थनापरौ अवर्तिस्वहि—प्रभो! अस्मान् श्रीतुलसीस्वामिनः सुदृढ़-मनुशासति। वयं नार्हामः स्वातन्त्र्येण कर्तुं किमपि।

आचार्याः प्राहुर्नातः परं तु स करोति किमपि! आवामवादिष्व 'नहि'।

स्मयमानाः पूज्याः—किं न श्रुतं युवाभ्यां पातशाहपुत्रस्य कथानकम्? अध्यापकेन पातशाहपुत्रस्य शिरसि धान्यपोट्टली स्थापिता। अन्यत् किमपि स्यात्तद्वाच्यम्। अध्यापनकार्ये स यथेष्टं कठोरत्वमाचरेत्, तत्र न युवयो-श्चलिष्यति किञ्चिदपि।

आवां नमस्कृत्य पूज्यान् पुनरागतौ। चिन्तितञ्चावाभ्याम्—अनया प्रवृत्त्या संरुष्टा मुनिवरा न जानीवहि, किं करिष्यन्ति, नाध्यापयिष्यन्ति। किन्तु महामनसाममीषां वाललीलायामस्यां ध्यानमपि न गतमिव। वस्तुत एतद् वाल्यविलपितादन्यत् किमपि नासीत्। न ज्ञायते कतिवारमेवं वयं शैशवादविनये प्रावर्तिष्महि, किन्तु नैषां धैर्यं कदापि चलितम्। अमी शिशव इति कृत्वा सर्वं समीकृतम्। एतस्य प्रभावः अवोधानामपि चास्माकं मनसि सुस्पष्टं प्रतिविम्बं न्यक्षिपत्। वयं स्वमहाज्ञातिरूपेण भवतो द्रष्टुं संलग्नाः। श्रद्धाविश्वासावपि परमसीमानमाभेजानौ। बलाद् वपुर्ग्राह्यम्, प्रेम्णा हृदय-मिति सत्यं वदन्ति कोविदाः।

बहुधा हम यथार्थ बात कहने के लिए भी समर्थ नहीं होते थे। (संकोचवश मन में ही रख लेते थे) "हम इधर-उधर जाने, किन्हीं के साथ बात करने, हास्य-विनोद आदि करने मे स्वतन्त्र नहीं है," यह सोचकर हम एक दिन कुछ खिन्न हो गए। सरदारशहर की बात है। चातुर्मास का समय था। प्रहर रात्रि व्यतीत होने वाली ही थी। आचार्य श्री शयनपट्ट पर विराज रहे थे। मैं और मुनि बुद्धमलजी दोनो आचार्य श्री के पास गए। श्री चरणों में वन्दन कर स्खलद्वाणी से हमने प्रार्थना के स्वर में कहा—

प्रभो ! श्री तुलसी स्वामी हम पर कठोर अनुशासन करते हैं। हम स्वतन्त्रता पूर्वक कुछ भी नहीं कर पाते।

आचार्य श्री ने कहा –

"इससे अधिक तो वह कुछ नहीं करता ?"

हमने कहा—नहीं।'

मुस्कराते हुए आचार्य श्री ने कहा—"क्या तुमने बादशाह के लड़के की कथा नहीं सुनी ? अध्यापक ने बादशाह के पुत्र के शिर पर धान की पोटली रखी थी। यदि कोई और बात हो तो कहो। अध्यापन कार्य में वह यथेष्ट कठोर अनुशासन बरते, वहाँ तुम्हारा कुछ नहीं चलेगा ?"

आचार्य श्री को वन्दन कर हम पुनः लौट आए। हमने सोचा, हमारी इस प्रवृति से रुष्ट होकर न जाने मुनिवर क्या करेंगे ? हमें अध्यापन नहीं करायेंगे। किन्तु हमें ऐसा लगा कि महामना मुनिवर का हमारी इस बाल-लीला पर ध्यान ही नहीं गया। वस्तुतः यह हमारा बचपन ही था और कुछ नहीं। न जाने कितनी बार बचपन के कारण हमने अविनय किया किन्तु आपका धैर्य कभी विचलित नहीं हुआ। ये बालक हैं ऐसा सोच कर आप सबका समीकरण कर देते। इसके प्रभाव ने हम अबोध शिशु-मुनियों के मन में अपना सुस्पष्ट प्रतिबिंब डाला। हम आपको अपने सबसे बड़े ज्ञाति के रूप मे देखने लगे। हमारी श्रद्धा और विश्वास चरम सीमा को प्राप्त थे।

"शक्ति से शरीर को पकड़ा जा सकता है और प्रेम से हृदय को" विद्वान् लोग यह सच कहते हैं।

३६—तानि दिनानि

स्मृतिसमुज्ज्वलानि तानि वासराणि। अणीयसि वयसि चाप्येकोऽनणु-प्रतिभासम्पन्नो मनस्विमुकुटः प्रकटमस्थात् अभ्युदयार्हमुखम्, यमालोक्य विलोललोचना बाला अपि वयं परमां मुदं समवहाम। प्राक्समर्जितानघ-पुण्य-प्राग्भारं पिण्डितमिवानयाम! सोऽयं रामोत्तरस्तुलसी मुनिर्मुनिपकालो श्चरणाम्भोरुहमुपासीनोऽस्मान् शिशुसाधून् शिक्षयितुं यतमानो यमादर्श-मुपस्थापयच्चेतस्तलस्पर्शिनम्, तस्याऽविगानं प्रतिमानं वितानमिव विततं हृदयमन्दिरे सततं विशदयति विचारस्थलीम्।

"अलमतिवाच्येन" इति बहुभिरुच्यते परन्तु तं पठनसमयं स्मारं-स्मारं पीतभक्तिसुधारसः, प्रीतमानसः स्ववशं यावल्लिखामि, वच्मि, उद्गिरामि वा, तावत् स्वकल्पमिव विलोके। अलमिति क्वचनापि काञ्चनोचलोर्थिपटलैरिव नहि निर्वर्ण्यते नाम स्फुरितान्तरुत्साहैर्विकसिनयनैः। अस्मिन् विषये जातम् बहु जातम्, लिखितम्, बहुलिखितम्, कथितम्, बहु कथितमिति न कदापि भानमुपजातमथवा तत्क्वापि यातं प्रदेशे विपिनदेशे वा।

आः! प्रविशामि विषयान्तरं साम्प्रतम्। लेखितव्यं किञ्चिदन्यदासी-ल्लिखितं पुनः किञ्चिदन्यदेव। लिखामि, तदापि किं लिखामि। तस्य नव-युवहृदयस्य महिमानं लिखितुं न दृश्यते वर्णमाला विशाला। रसमयः समयोऽपि त्वरितगतिकः, प्रेक्षापि कविजनोचितवर्णनाकृतोपेक्षा। किञ्चि-दिवास्तु, बलवती पावना हृदय-भावना। प्रकाशयितव्यं प्रकाशनीयमेव। दृढसन्धानां किमसम्भवम्।

३६—वे दिन

वे दिन स्मृति में समुज्ज्वल है। उन दिनों हमने देखा, एक अल्पवयस्क विशेष प्रतिभासम्पन्न मनस्वी मुकुट अभ्युदय की ओर वढ़ रहा था जिसे देखकर हम चंचल वालक भी परम मुदित हो जाते थे। पूर्व संचित निरवद्य पुण्य को पिंड के रूप में पा रहे थे। वे थे मुनि तुलसीरामजी, जिन्होंने आचार्य कालूगणी के चरण कमल की उपासना करते हुए हम वाल साधुओं को पढ़ाने के लिए यत्न करते हुए अन्तस्तल को छूने वाला जो आदर्श उपस्थित किया था, उसकी पवित्र प्रतिमा हृदय-मंदिर में चँदवे की तरह फैली हुई है और विचारों को सतत विशद वना रही है। "कहने में अति नही करनी चाहिए"—ऐसा वहुत सारे व्यक्ति कहते हैं, परन्तु उस शिक्षा-काल को याद कर, भक्ति के सुधारस को पीकर अपनी स्वतन्त्रता से जितना लिखता हूँ, कहता हूँ या उद्गार प्रकट करता हूँ, वह सारा थोड़ा है—ऐसा दीख पड़ता है। जिनके अन्तर में उत्साह स्फुरित हो रहा है, वे नयन "वहुत हो गया"—यह कही भी नहीं देख पाते, जैसे याचक गण मेरुपर्वत को।

इस विषय में हो गया, वहुत हो गया, लिख गया, वहुत लिखा गया, कहा गया, वहुत कहा गया—ऐसा भाव कभी भी नहीं हुआ अथवा वह कहीं दूर देश में या अरण्य में चला गया।

ओह ! मैं अभी विषयान्तर हो रहा हूँ। लिखना कुछ और ही था, लिखा कुछ और ही। लिखूँ, फिर भी क्या लिखूँ ? उस नवयुवक के हृदय की महिमा लिखने के लिए वर्णमाला छोटी वन रही है। यह रसमय समय तेजी से चला जाता है। मेरी बुद्धि भी कविजनोचित नहीं है। कुछ भी हो, हृदय की पवित्रता भावना बलवती है जो कुछ प्रकाश में लाना है, वह लाना ही चाहिए। दृढ़ प्रतिज्ञावालों के लिए क्या असम्भव है ?

३७—पाठन-कौशलम्

आचार्याः (श्रीकालुगणिनः) आलोक्य पाठनपाटवं पटुमतेः परमप्रसन्ता निश्चिन्ताश्चासन्। सा वार्ता नहि विस्मृता यत् वि० सं० १९८८ ज्येष्ठमासे प्रारब्धः पठितुमभिधानचिन्तामणिकोषो मया बुद्धमल्लेन च। स एव राजगढ़ः, तदेव (जशकरणजीसुराना) मन्दिरम्। तदेव उपरितनं माल्यम्। तदेव तत्र तत्र भवतां श्रीकालुगणिनां मुनिमण्डलीमण्डितं विराजनम्। सैव मनस्विनो मुनिवरस्य सम्मुखीना आवयोः स्थितिः। सैव आवयोर्जडा बुद्धिः, या अर्धमुहूर्त्तवाचितां श्लोकद्वयीमपि स्वीकर्तुमसमर्थाऽसीत्। सर्वमपि तद् अद्य चलच्चित्रमिव दृशोः सम्मुखं भवदस्ति मुहुर्मुहुः। तानि 'चाडवास'—दिनान्यपि सन्ति कामं स्मृतिपथमवतीर्णानि, येषु नितरां षट्त्रिंशत् चत्वारिंशत् श्लोकाः सुलभतया कण्ठग्राह्या अभवन्। मनीषिणो यूयं नातः परमुदाहरणं मृगयथ श्रीमतोऽध्यापनकौशलस्य।

एतदपि सुतरां कथयितुं शक्यम्—यत्तेरापन्थसम्प्रदाये संस्कृतस्य शृङ्खलाबद्धः क्रमः प्राचलत्, तस्य मुख्यं श्रेयोऽल्पवयस्कायाऽमुष्मै मुनिवराय दातव्यमेव। इत्यपि वचनार्हम्—श्रीमतां पूज्यप्रवराणां प्रबलः संस्कृतप्रसारस्य मनोऽभिलाषः सपदि साफल्यमुपागतः, तत्र महामनसो मुनेः श्रीतुलसी-स्वामिनो नाम भविष्यति नितान्तमुल्लेखनीयम्।

महात्मनाऽमुना गुरोरादेशात् विंशतिसहस्रानुमानितान् श्लोकान् कण्ठीकृत्य कण्ठीकरणपरम्परा स्वस्थमास्थापिता। साम्प्रतिकयुगे नैतस्य महत्त्वमुद्गिरन्ति कोविदा अपि। मा, किन्तु कण्ठीकरणेन ज्ञानमात्रा कामं विकसिता स्यादिति सुनिश्चितम्।

३७—पाठन-कौशल

आचार्य (श्री कालूगणी) पटु बुद्धिवाले तुलसी मुनि के पाठन-कौशल को देखकर परम प्रसन्न और निश्चिन्त थे। वह बात मुझे याद है कि वि० स० १९८८ ज्येष्ठ महीने मे मैं और मुनि बुद्धमलजी—दोनों अभिधान चिन्तामणि कोष पढ़ने लगे थे। वही राजगढ़ और वही (जशकरणजी सुराना का) घर। वही ऊपर का तल्ला। वही आचार्य श्री कालूगणी का मुनि-मण्डली के साथ रहना। मुनिवर के सामने हम दोनों की वही स्थिति। हम दोनो की वही जड़-बुद्धि, जो अर्द्ध मुहूर्त्त मे भी दो श्लोक ग्रहण करने में असमर्थ थी। वह सारा वातावरण आज चलचित्र की तरह वार-वार आँखों के सामने आ रहा है। चाड़वास के वे दिन भी याद हैं, जिन दिनों ३६ या ४० श्लोक प्रतिदिन सरलता से कठस्थ कर लेते थे। मुनिवर के अध्यापन-कौशल का इससे उत्कृष्ट और क्या उदाहरण हो सकता है?

यह भी कह सकते हैं कि तेरापंथ सम्प्रदाय मे सस्कृत भाषा का जो शृंखला-बद्ध क्रम चला, उसका मुख्य श्रेय इन अल्पवयस्क मुनिवर को है।

यह भी कहा जा सकता है कि श्रीमद् कालूगणी की संस्कृत-प्रसार की प्रबल अभिलाषा सहसा सफल हुई, उसमें महामना श्री तुलसी स्वामी का नाम नितान्त उल्लेखनीय रहेगा।

गुरु के आदेश से आपने लगभग २०,००० श्लोक कण्ठस्थ कर कण्ठस्थ करने की परम्परा को अक्षुण्ण रखा। आधुनिक युग में विद्वान् इसकी (कण्ठस्थ करने की) महत्ता को प्रगट नही करते। वे भले ही न करे, परन्तु कण्ठस्थ करने से ज्ञान की मात्रा विकसित होती है, यह निश्चित है।

३८—भयप्रीत्योः सम्मिश्रणम्

भयमस्ति कष्टकरम्। तन्नयति भूस्पृशोवचोऽस्पृश्यां गतिम्, भवति च विह्वला मतिः। कति दोषान् वदामि, सन्ति यति दोषा जगति, तति निवसन्ति साध्वसस्यैकच्छत्रसाम्राज्ये। प्राज्यमुदाहृतमत्र कविकुलकिरीटैः पुरातनैः। नाल्पत्वमिदानीमपि निर्णिनीषूणाम्। परन्तु स्याद्वादमहामुद्रामुद्रितानां वस्तूनां नैकान्तत्वं क्वापि विभावनीयम्। यस्मिन् दरे भवति हृदयं विदीर्णम्, तमेव उदीर्णा वितन्वन्ति प्रेम्णाकीर्णम्।

स्मरामि, बहुशः स्मरामि, अहम्, न केवलमहम् अपितु अनेके बाल-मुनयः—आसन् ये विद्यापीयूषरसमास्वादयितुमुत्सुकास्ते सर्वेऽपि श्रीमन्मुनेः (तुलसीस्वामिनः) सकाशात् सुतरामकम्पिपत यथा यथा, तथा तथा नितरा-मैधिष्टः तेषां चेतसि शीकरसंताडितालतेव भक्तिः। किमिदं शक्तिभक्त्योः सम्मिश्रणम्? न, न, इदमस्ति शक्तिप्रीत्योः समन्वयः वात्स विकला शक्तिः पङ्गुरेव। नारोहेत् सा किमपि समुन्नति शिखरिशिखरम्। न च प्रीतिमन्तरा भक्तिरूल्लषेत्।

तद्दिनं कियद् विस्मयकरम्, यस्मिन् वत्सलरसैकमूर्तेः, स्फुरितसारल्य-स्फूर्तेरनन्तकीर्तेः, परमदयालोः कालोरयं वाग्विलासो मृदुहासपूर्वकं श्रुतिसध्रीचीनोऽजनि मम नवीन एव।

"हरडर गुरुडर गॉवडर, डरकरणी में सार।
तुलसी डरै सो ऊबरै, गाफिल खावै मार॥"

तदात्वमेव मया मम सहपाठिना च इत्येव प्रतिभातम्, इत्येव प्रतीतम्—यस्तुलसीस्वामिनो भयं मनुते स एव समुद्धरेत् स्वम्। इयं भीतिः हठात् महत्वमभिलपतोऽस्ति प्रतिक्रिया, सहृदयतया हृदयं विजयमानस्य समस्ति सत्क्रिया, विक्रिया च पशुबलजनितविभीषिकायाः।

३८—भय और प्रेम का मिश्रण

भय कष्टकर होता है। वह मनुष्यों को अनिर्वचनोय गति की ओर ले जाता है। उससे मति विह्वल हो जाती है। कितने दोषों का नामोल्लेख करूं, संसार में जितने दोष हैं, वे सारे भय के एक छत्र साम्राज्य में रहते है। प्राचीन कविवरों ने इसके वहुत उदाहरण दिए हैं। निर्णय की इच्छा रखने वालों के लिए आज भी इनकी कमी नही हैं। परन्तु स्याद्वाद मुद्रा से मुद्रित वस्तुओं की कहीं भी एकान्तता न्ही माननी चाहिए। जिस भय में हृदय विदीर्ण हो जाता है, उसी को उदारचेता व्यक्ति प्रेम से आकीर्ण कर देते हैं।

मुझे याद है, भली भांति याद है। मैं, केवल मैं ही नहीं, किन्तु अनेक बाल मुनि जो विद्या के सुधारस का आस्वाद करने के लिए उत्सुक थे, वे सभी मुनिवर श्री तुलसी स्वामी से ज्यों ज्यों कम्पित होते थे, त्यों त्यों उनके मन में अपने शिक्षक के प्रति शीकर से प्रताड़ित लता की तरह भक्ति वढती थी। क्या यह शक्ति और भक्ति का सम्मिश्रण नहीं है? नहीं, नही यह तो शक्ति और प्रेम का समन्वय है। वात्सल्य-विकल शक्ति पंगु है। वह समुन्नति के शिखर पर नहीं चढ़ सकती। प्रीति के विना भक्ति भी उल्लसित नहीं होती।

वह दिन कितना विस्मयकारी था, जिस दिन वत्सलता की प्रति मूर्ति, सहज सरल, अनन्त कीर्ति, परम दयालु कालुगणी की मृदुहास पूर्वक वाणी मैने पहली बार सुनी—

हर डर गुरु डर गाव डर, डर करणी में सार।
तुलसी डरै सो ऊबरै, गाफिल खावै मार॥

उसी क्षण मैने और मेरे सहपाठी ने यही सोचा और जाना कि जो तुलसी स्वामी का भय मानता है, वही अपना उद्धार करता है। जो दूसरों को डराकर अपना महत्व बढ़ाना चाहता है उसके लिए यह भय प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। जो सहृदयता से हृदय को जीतता है, उसके लिए भय सत्कार पैदा करता है और जो पशुबल द्वारा विभीषिका पैदा करना चाहता है, उसके लिए यह विकार है।

३९—पारस्परिकः संबन्धः

सत्यमेतत्, सनातनं सत्यम्। अस्माकं अध्यापकाध्येतॄणां पारस्परिकाः सम्बन्धाः पूर्णरूपेण संश्लिष्टाः सहृदयत्वभक्तिसमञ्चिता आसन्। इदं परमं सौभाग्यं मन्ये। किञ्च प्रबलपुण्यप्रकाशेन विना नैतद् भवितुमर्हम्। किं रहसि जल्पामि वा प्रकाशम्, विनयासं लोलोक्यते पाठकच्छात्राणामप्रेमपूर्णो व्यवहारः। पाठकाश्च पाठयन्ति काँश्चित् काञ्चिद् विवशतामनुभवन्तः, अध्येतारोऽप्यधीयते यथाकथञ्चित्। ते तान्नहि कुशलान् कलयितुं चेष्टन्ते, न च तेताननुनेतुम्। किमेतत् पठनम्, किमेतत् पाठनम्, कोऽत्र सम्बन्धः, कश्चात्रानन्दः, कश्च तत्र विनयः, कश्च तत्र विद्यालाभः, यत्र अध्यापकाः संशेरते छात्रेषु, छात्राश्च संदिहते पाठकेषु। परंतु परमसौभाग्यशालिनामस्माकमशेषाणामपि विद्यां संजिघृक्षूणां श्रीमन्मुनेर्निपुणचरणान् प्रति पावनोऽलपत भक्तिसमुद्रेकः। विवेकिनां शिरोमणेर्महात्मनोऽपि प्रकाममासीदनुरक्तिरात्मकारुण्यमयी चास्मासु। तदनुग्रहबीजानि प्रतीकान्यभूवन् बोधविटपिनाम्। निःशेषबालकेष्वपि एकः कश्चिदनिर्वचनीयसूत्रग्रन्थितः सततमराजत मिथः सरलसंबन्धः। प्रबन्धोऽपि खलु सोऽखिलः विरल एव कलितो निखिलदर्शकैः। रोमोद्गमकारको हि सहवासः सोऽथ केन न स्मर्यते तत्र स्थितेन चेतनावता।

३६—पारस्परिक सम्बन्ध

यह सत्य है, सनातन सत्य है। हमारे शिक्षक और शिक्षार्थी के पारस्परिक सम्बन्ध पूर्ण रूप से संलिप्ट तथा सौहार्दपूर्ण भक्ति से समन्वित थे। मैं यह परम सौभाग्य मानता हूँ, क्योंकि प्रवल पुण्य के प्रकाश के विना ऐसा हो नहीं सकता। क्या ऐकान्त में कहूं या सवके समक्ष, विना कुछ प्रयत्न किए ही हम देखते हैं आज के अध्यापक और छात्रों का अप्रेमपूर्ण व्यवहार। अध्यापक कई विवशताओं का अनुभव करते हुए पढाते हैं और विद्यार्थी भी ज्यों-त्यों पढते है। अध्यापक छात्रों को कुशल वनाने की चेष्टा नहीं करते और न छात्र अध्यापक का अनुनय विनय ही करते है ? यह क्या अध्यापन और यह क्या अध्ययन ? वहाँ कौन सा सम्वन्ध है और कौन सा आनन्द ? वहाँ कौन सा विनय है और क्या विद्या-लाभ, जहाँ अध्यापक छात्रों के प्रति संशयशील रहते है और छात्र अध्यापकों के प्रति। परन्तु परम सौभाग्यशाली हम सभी विद्यार्थियों मे मुनिवर के प्रति पवित्र भक्ति का उद्रेक विलसित था और विवेकी व्यक्तियों के अग्रणी इन महामना की हममें करुणापूर्ण अनुरक्ति थी। उनके अनुग्रह-वीज वोधि वृक्ष के प्रतीक थे। सभी बालक एक किसी अनिर्वचनीय सूत्र से बंधे हुए थे और वह था पारस्परिक सरल सम्बन्ध। वह सारी व्यवस्था भी दर्शकों ने निराली हो मानी थी। उस रोमांचकारी सहवास की स्मृति कौन चेतनावान् प्राणी नहीं करेगा जो वहाँ उपस्थित रहा।

४०—सत्याग्रहः

(आजीवनमनशनम्)

पिता[1]—आचार्या[2] मां निषेधन्ते। कृतेपि मुहुरनुनये नहि मां संघे सम्मेलयितुमिच्छन्ति। साम्प्रतं विपन्नायामेतस्यां दशायां त्वमपि मां जहासि—वत्स! अयुक्तमेतत्! त्वमेव ममाधारभूतः। स्खलद्गतेर्मम वत्स! त्वमेव यष्टिः। त्वां नाहं क्षणमपि त्यक्तुमर्हामि। पुत्र! कथं जीवेयमत्र त्वया विनाहमेकाकी। तारामृतेऽपि किमुनयनमालोकतां स्फुटतरतारापथतरलितानपि पदार्थसार्थान्। विनयिवर! त्वमपि नहि मम नयनबाष्यं परिजिहीर्षसि, तदा को नामापरो मम त्रुटितं हृदयं सन्धातुं यतिष्यते। वत्स! आयाहि मया सार्धमायाहि। आग्रहं त्यज। मन्यस्व ममानुरोधम्। अन्ततस्तव पितास्मि—इति तूष्णीं भवति। क्षणमालोच्य इव मृदुवाग्विसरो मनोहारिस्वरः सानुनयं वक्ति-पितः! भवदनुरोधो ध्रुवं माननीयः, परंत्वात्महितावहं सिद्धान्तमपहायापि भवद्वाणीं स्वीकरवाणीति नान्तरात्मा साक्ष्यं तनुते। जीवनसूत्रधारं परमपूज्यमुपेक्षमाणोऽहमपि जीवेयमित्यपि न सम्भवि। संयम रतस्य मम अनारतं मनस्तेन मनस्विनैव क्रीतमिति प्रतीतमेव भवतः। नवनीतं नवनीतं परिहाय नाहं प्रायो व्यथितपेयं मथितमेवाग्रहीतुं साग्रहः। जनयितः! भवत्पुत्रोऽहं तत्र गतः सुचिरं साधयिष्यामि स्वपरहितानि। पितः प्रसादं कुरु। मामनुगृहाण। उपपूज्यं गन्तुमनुजानीहि। सत्यमुपासितुमुत्कोऽस्मि तात! केवलं भवत आदेशमपेक्षे। सद्योऽर्पणीय आदेशः। अन्यथा सत्यवशा तनुरेषा त्यक्ष्यति स्वप्रदेशम्। दृढोऽयं संकल्पः। कल्पान्तेऽपि नावचलिष्यति। तात! श्रूयते युष्माभिः, यावन्न पूज्यपादं सेवितुमादेक्ष्येऽहं भवता, तावदहं न किमपि भोक्ष्ये, पानीयमपि न पास्यामि। किमिदयनशनम् ओम् अनशनं चतुर्विधाहारपरिहारि अनशनम्।

१—श्री भारमल्लस्वामिनां किशनोजिनामा पिता

२—श्री भिक्षुस्वामिनः

४० — सत्याग्रह

पिता—आचार्य मुझे मना ही करते हैं। वार-वार अनुरोध करने पर भी वे मुझे संघ में सम्मिलित करना नही चाहते। अव इस विपदापूर्ण दशा में तू भी मुझे छोड़ रहा है। वत्स ? यह अनुचित है। तू ही मेरा आधार है। लड़खड़ाती गति वाले के लिए वत्स ? तू ही सहारा है। तूझे मै क्षण भर भी नही छोड़ सकता। पुत्र यहाँ मैं तेरे विना एकाकी कैसे जीऊँगा ? क्या स्वच्छ आकाश में गतिशील पदार्थ -समूह को कनीनिका के विना ही नयन देख सकेंगे ? विनयिवर। यदि तू भी मेरे आँख के आसुओं को पोछना नहीं चाहता, तो भला दूसरा कौन मेरे टूटे हृदय को सांधने का यत्न करेगा ? वत्स। आ मेरे साथ चल। आग्रह छोड़ मेरा अनुरोध मान। आखिर मे तेरा पिता हूँ—इतना कह वे मौन हो जाते हैं।

क्षण भर सोचकर मृदु और मनोहारी स्वर मे विनय पूर्वक पुत्र कहता है—पिताजी आपका अनुरोध अवश्य ही मानना चाहिए, परन्तु आत्महितकारी सिद्धान्त को छोड़कर आपकी वाणी स्वीकार करूँ—यह मेरी अन्तरात्मा साक्षी नहीं देती। परमपूजनीय, जीवन-सूत्रधार की उपेक्षा कर मैं भी जीवित रहूँ—यह संभव नहीं है। संयम में रत मेरे मन को उन मनस्वी ने खरीद लिया है, यह आप जानते ही हैं। ताजे मक्खन को छोड़कर प्रायः रूग्ण व्यक्तियों के द्वारा पिया जाने वाला मट्ठा पीने का आग्रह मैं कैसे करूँ ?—पिताजी मैं आपका पुत्र हूँ। वहाँ पर जाकर मैं चिरकाल तक स्व-पर हित की साधना करूँगा। पिताजी। प्रसाद करो। मुझे अनुग्रहीत करो। पूज्य श्री के पास जाने के लिए आज्ञा दो। सत्य की उपासना करने के लिए मैं उत्सुक हूँ, पिताजी। केवल आपके आदेश की अपेक्षा है। मुझे आप आदेश दे अन्यथा सत्य के अधीन वना हुआ यह शरीर अपना स्थान छोड़ देगा, यह मेरा दृढ़ संकल्प है। प्रलयकाल में भी वह विचलित नहीं होगा। तात। आप सुनते हैं—जव तक आप मुझे पूज्यपाद की सेवा करने का आदेश नहीं देते, तब तक मैं कुछ भी नही खाऊँगा, पानी भी नही पिऊँगा।

पिताने साश्चर्य पूछा क्या यह अनशन है ?

पुत्र ने कहा—" हाँ, अनशन है, चतुर्विध आहार का त्यागरुप अनशन है।

४१—पितुः क्रोधः

पिता—किं मुमूर्षसि ? म्रियस्व-म्रियस्व मा विलम्बस्व, याहि याहि-सहसा म्रियस्व। मृतमेतादृशेन सूनुना यो गुरुं बहुमन्यते पितुरपि। मन्यस्व एतेन किं भविष्यति। किमेवमेव मां भापयिष्यसि ? ममानुमतिमादास्यसे। नहि नहि एतत् कदापि नहि संभावनीयम्। नास्ति शिरीषकुसुममिव सुकुमारं मम हृदयम्। किं न जनासि—अहमस्मि कुलिशादप्यतिकठोरः। नास्म्यहं नवनीतः, यो हि किञ्चित्तनूनपाता कदुष्णः सन्नेव द्रवेत् च्यवेत च स्वपदात्। किं मनितं त्वया, त्वमेवमेव वेत्सि-जगति सर्वेऽपि जना एतादृशा एव भवन्ति, ये खल्वेतद्विधं दुराग्रहं निभाल्य वेपेरन्, विभियुः, मन्येरँश्च यत्किञ्चित्। नाहं तादृशोऽस्मि। अहं यदभिनिविशामि तन्न त्यजामि तावद्, यावन्मामी असवः कीनाशास्यं प्रविशेयुः। इति प्रोच्य कोपं मूर्त्तयन्निव, संधुक्षितातुललोहितलोचनहसन्तिकासन्तापेन सन्मतिमिहिकां व्यत्ययन्निव, रदनपेषण्यां स्वानभिमतं दलयन्निव, अङ्गुलीसंकेतेन स्वाङ्गजस्य कृत्यमाक्षिपन्निव, आविद्धविचारैर्हृदयेन समं विग्रहं विकुर्वन्निव मुहुर्मुहुः स्वात्मभवं दशां विषयीकरोति। क्वचिदकस्माच्छान्तः, कवचिद् विश्रान्तः, क्वचिद् भ्रान्तः, क्वचित् स्वान्ते विकल्पवीचिमुच्छालयन्, क्वचिद् मृगमरीचिकायां स्नान्, क्वचिज्जल्पन्, क्वचिद् गुणगुणायमानः, क्वचित् तमुलं कलयन्, अलं कृकलास इव बहुरूपाणि वितन्वन् विहरति। दुर्लक्ष्यः, दुःप्रधर्षः, दुर्बोधश्च सम्प्रतीति बुधितं विदुषा।

४१—पिता का क्रोध

पिता—क्या तू मरना चाहता है ? मर,मर विलम्ब मत कर । जा, जा सहसा मर । मुझे ऐसे पुत्र से क्या, जो पिता की अपेक्षा गुरु को अधिक मानता है । तू भले मान इससे क्या होगा ? क्या इस प्रकार तू मुझे डरायेगा ? मेरी अनुमति लेगा ? नहीं. नहीं यह कभी संभव नही है । मेरा हृदय शिरीष कुसुम की तरह सुकुमार नही है । क्या तू नही जानता, मैं वज्र से भी अधिक कठोर हूँ । मैं नवनीत नहीं हूँ जो अग्नि की ताप से कुछ गर्म होते ही पिघल जाए और अपने स्थान से च्युत हो जाए । तू ने क्या मान रखा है ? तू ऐसे समझता है कि संसार में सभी पुरुष ऐसे ही होते है, जो ऐसे दुराग्रह को देखकर कंपित हो जाए, डर जाएं और जो कुछ भी स्वीकार कर ले । मैं वैसा नही हूँ । जो मैं हठ कर लेता हूँ उसे तब तक नहीं छोड़ता, जब तक कि ये प्राण यमराज के मुँह में प्रवेश न कर पाए' । यह कहकर वे मानो क्रोध को मूर्तिमान् करते हुए' अरुण नयन रुपी अंगीठी के संताप से सन्मति रुपी हिम को पिघालते हुए, दातों की चक्की में अपने अनभिमत को पीसते हुए, अंगुली के इशारे से अपने पुत्र के कृत्यों का आक्षेप करते हुए, बिंधे हुए विचारों से हृदय के साथ विग्रह करते हुए, वार-वार अपने पुत्र को देखते है ।

वे कहीं अकस्मात् शान्त होते हैं कही विश्रान्त और कहीं भ्रांत होते हैं । कही अपने मन में विकल्पों की लहरों को उछाल रहे है तो कहीं मृगमरीचिका में नहा रहे हैं । कही वोल रहे हैं, कही गुनगुना रहे है और कहीं तुमुल कर रहे हैं । बहुत क्या कहें ? इस प्रकार गिरगिट की भांति नाना रूपों को धारण करते हुए विचार रहे हैं । पुत्र ने जाना, अभी पिताजी दुर्लक्ष्य, दूष्प्रधर्ष और दुर्बोध हैं ।

४२—पुत्र-प्रार्थना

व्यतीतः कियान् अनेहाः। मरीचिमालिनोरोचिषोऽपि प्रतीचीमुपजिगमिषव इवासन् प्रायः। छायाच्छन्नं बहुलमिलामण्डलम्। अनासादितेन्धनहुताशन इव पितुरपि कोपः क्वापि विचारजगति लोपं समासदत्।

तदानीं पुनरपि सविधमायातं विनयवलितग्रीवेण तनुभवेन। अह! तं सम्मुखमायान्तमेव आलोक्य शान्तोऽपि क्रोधस्तथा प्रकटित,ःयथा प्रादुर्भवन्ति आध्मातासु भस्त्रासु कृशानुकणाः, अतुलतुमुलध्वनिसंकुले सङ्गराङ्गणे वीरयोद्धकरवर्तिकोशेभ्यः कृतान्तदन्तपंक्तिमुपहसन्तः संघर्पसमुत्थप्रसराः ज्वलज्ज्वालास्फुरत्स्फुलिङ्गाः कृपाणाः तापसंतप्तचेतसां लोचनेभ्योऽनवरुद्धप्रसराअश्रु विसराः। उवाद शाक्रोशम्—अये! पुनरपि मामुपागतोऽसि। किं मामुपतापयसि। किं मां विह्वलयसि। किं मां कुरुषे प्रगल्भम्। गच्छ, गच्छ, दूरं तिष्ठ-तिष्ठ, क्षुधं सहस्व, सहस्व पिपासाम्। किं विचलितमिदानीमेव। ज्ञातं मया, त्वया अवसितम्—अशनपरिहारस्य भयं दर्शयित्वा चञ्चलयिष्यामि तातचेतः। परन्तु नहि तदा त्वयेति विमृष्टम्—यन्नहि सर्वेऽपि मानवाश्चपलमतयो भवन्ति। साम्प्रतं। पीड्यसे जठराग्निना, दूयसे तृषा, मृषा मा ब्रूहि, किमेतदर्थनागतोसि माम्।

पुत्रः (इति निशम्य शिरोधूनन्) हन्त! हन्त! नेति बुद्धं मया—ममपितापि मामेवंविधं ग्रथिलं मन्यतेऽवमन्ते च। तात! भवता किं कथ्यते, मन्मया कृतं तत् सर्वं विचारपुरस्सरमेव कृतम्। नाहमत्र किञ्चिदपि खिद्ये। किंनामोपतापं जनयेद् बुभुक्षा उदन्या जघन्या च तस्य मम, योऽहं प्राणैः सह महाहवं कर्तुमुद्यतोऽस्मि। माया केवलं पूज्यपादानुपासितुमनसाऽनुनीतो भवान्। चेन्नात्र भवत्स्वीकृतः, तदा उदाराः प्राणा अन्वेपयन्तु स्वप्रेयासमध्वानम्। अहं यामि पितः! नातः परमनुरोत्स्यामि भवन्तमेतद्विषये। सुखमासतां तातचरणाः।

४२—पुत्र-प्रार्थना

कुछ समय बीता। सूर्य की किरण पश्चिम की ओर जाने की इच्छुक थीं। पृथ्वी का बहुलांश अन्धकार से आच्छादित हो गया। जैसे ईंधन के बिना अग्नि बुझ जाती है, वैसे ही पिता का क्रोध भी विचार-जगत् में कहीं लुप्त हो गया।

उस समय विनयावनत पुत्र पुनः उनके पास अया। आश्चर्य। उसको अपने सन्मुख आते देख पिता का शान्त क्रोध भी ऐसे प्रकट हुआ, जैसे प्रज्वलित धमनियों में अग्नि के कण, अतुल तुमुल नाद से संकीर्ण समर-भूमि में वीरयोद्धाओं की म्यानों से यमराज की दन्तपक्ति का उपहास करने वाले, संघर्ष से उतावले और ज्वाला स्फुलिगों को बिखेरने वाले कृपाण तथा ताप से संतप्त मनुष्यों की आंखों से निरन्तर बहने वाली अश्रु की धाराएं प्रगट होती हैं। उन्होंने आक्रोश भरी वाणी में कहा—अरे तू फिर मेरे पास आ गया ? मुझे क्यों कष्ट दे रहा है ? मुझे क्यों विह्वल कर रहा है ? मुझे क्यों ढीठ बना रहा है ? जा,जा दूर रह, दूर रह। भूख को सहन कर, प्यास को भी सह। क्या तू अभी विचलित हो गया ? मैंने जान लिया, तू ने यह समझा था कि खान-पान के त्याग का भय दिखाकर मैं पिता के चित्त को चंचल कर दूंगा। परन्तु तू ने उस समय यह नहीं सोचा कि सभी मनुष्य चपल बुद्धि वाले नहीं होते। अब तू जठराग्नि से पीड़ित हो रहा है, प्यास सता रही है। झूठ मत बोलना, क्या तू इसलिए मेरे पास नहीं आया ?

पुत्र—(यह सुनकर सिर हिलाता हुआ) खेद ! खेद ! मैं यह नहीं जानता था कि मेरे पिताजी मुझे ऐसा ग्रथिल मानते है। और मेरा अवमान करते हैं। पिताजी आप क्या कह रहे हैं ? जो मैंने किया है, वह सब विचार पूर्वक ही किया है। इसमें मुझे तनिक भी खेद नहीं है। भूख और प्यास मेरे क्या ताप पैदा कर सकेंगे जबकि मैं प्राणों के साथ महान् युद्ध करने के लिए उद्यत हुआ हूं। मैं केवल पूज्य पाद की उपासना करने की इच्छा से आपका अनुनय कर रहा हूँ। यदि इसमें आपकी स्वीकृति नहीं है तो मेरे ये उदार प्राण अपने इष्ट मार्ग का अन्वेषण करें। मैं जाता हूँ, पिताजी ! इसके बाद मैं आपसे इस विषय में अनुरोध नहीं करूँगा। आप सुख से रहें— सुख से रहें मेरे पूज्य पिता।

४३—व्यतीतम्

(खेरस्तमनवेला) मास्य कृतसद्विवेकलोपं कोपमुपमायुर्ममान्धकारमुपातीव्रत्विषा इतिरुषा अरुण इव अरुणो जगाम दूरदेशम्। नायमुत्तानयति नेत्रे अपि कथमहं तदानीं स्यामस्य वेत्रीति प्रतिभासं ददन् प्रकाशोप्यभूत्तस्यानुगामी। अहो ! पुत्रं प्रति पितुरियत आक्रोशानवलोकमानमपि नहि किञ्चिदपि संकोचमावहमहमिति त्रपमाणमिव दिनमपि इनं नातिचक्राम। अपहरामि तन्क्रोधमितीव सानुरोधमुपागता वहलतिमिरा तमस्विनी। अहह ! अन्धकारनिचितवातावरणेऽपि शिशोरस्य तपस्विनो हृदयं सज्ज्ञानसमुज्ज्वलमस्मभ्यमधिकमपीति वक्तुमुत्सुकास्तारका अपि चाकचिक्यमादधुः। शान्तः खगरवः। विहगाकीर्णा अभूवन् विटपिशाखाः। विश्रामं लिप्सुर्वि शून्यो व्योममार्गः। राजमार्गा अपि प्रायोऽभूवन् दैनिकविक्षोभमाचिकीर्षव इवोत्तानशयाः अधिचकार पितृतनययोर्नयनान्यपि निद्रा! साधयिष्यामि तपसा स्वमनोरथमिति तनयो नापश्यन् पितरम्। बाधयिष्यामि क्रुधाऽस्य चिन्तितमिति पितापि नेक्षाञ्चके तनूजातम् निशि निशि। चिरमासिता वासितेऽयपि गतवती। जागरितौ तावुभावपि स्वस्वान्तःकरणभावनां जागरयन्ताविव। एकतो लोचनलोहितिम्नि निमज्ज्यन्नात्मनैर्मल्यं संतिष्ठते जनयिता। एकतश्च शतशः क्षमां प्रगुणयन्निव धैर्यं मूर्तयन्निवास्ते चाल्पवयास्तपस्वी। किञ्चिदुदञ्चितो भानुमान्। लोकाः प्रविविशू रसवतीम्। प्रबलमुदितं क्षुधया। आदाय करे झोलीं पिता स्म हिण्डते माधुकरीम्। पश्यन्ति गृहिणो मुनिं गृहमागच्छन्तम्, ददति च यथेष्टं भिक्षाम्।

४३—बीत गया

(सूर्यास्त की बेला) जिसने सद्द विवेक को नष्ट कर डाला, पिता के उस क्रोध को मेरी अन्धकार को चुराने वाली तीव्र किरणों से उपमित न करे– मानो इस रोष से अरुण होकर सूर्य दूर देश को चला गया। यह आंखों को नहीं फैला रहा है, उस स्थिति में मैं इसका प्रहरी कैसे हो सकता हूँ? —ऐसा प्रतिभास देता हुआ प्रकाश भी सूर्य के पीछे चला गया। आश्चर्य! पुत्र के प्रति पिता का इतना आक्रोश देखते हुए-भी मैंने कुछ संकोच नहीं किया—ऐसे लज्जित होते हुए दिन ने भी सूर्य की मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया। उसके क्रोध का हरण कर लूं, ऐसा सोचती हुई नीरन्ध्र अन्धकार वाली रात्रि अनुरोध करती हुई आई। अहो! अन्धकारमय वातावरण में भी इस तपस्वी शिशु का हृदय सज्ज्ञान द्वारा हमारे से भी अधिक उज्जवल है—ऐसा कहने को उत्सुक तारे भी चमचमाते थे।

पक्षियों का कलरव शान्त था। वृक्ष की शाखाएं विहंगों से आकीर्ण थीं। विश्राम करने के इच्छुक की तरह आकाश शून्य था। प्रायः राजमार्ग भी मानो दैनिक विक्षोभ को दूर करने के इच्छुक होकर सीधे सो रहे थे। पिता और पुत्र की आंखों पर भी नींद ने अधिकार कर लिया था। तपस्या के द्वारा अपना मनोरथ साधूँगा—इस भावना से पुत्र ने पिता को नहीं देखा। मैं क्रोध के द्वारा इसके चिन्तन को वाधित करूंगा'—इस भावना से पिताने भी पुत्र को रात भर नहीं देखा। लम्बी रात भी बीत गई। अपने अन्तःकरण की भावना को जगाते हुए वे दोनों जागृत हुए। एक ओर आंखों की लालिमा में अपनी आत्म-निर्मलता को डुबोता हुआ पिता बैठा है, एक ओर शतशः क्षमा को बढ़ता हुआ, धैर्य की मूर्तिमान् करता हुआ, अल्प वयस्क तपस्वी (पुत्र) बैठा है।

सूर्य कुछ ऊपर आया। लोक रसोई घर में प्रविष्ठ हुए। भूख बढ़ी। हाथ में झोली लिए पिता भिक्षा के लिए फिर रहे थे। गृहस्थ अपने घर में आते हुए मुनि को देखते हैं और यथेष्ट भिक्षा देते है।

४४—पितुः क्रोधोपशमः

आहारमादाय स्थानमागतः पिता, भोक्तुं प्रचालितः करः। किमीदृशे कठोरजठरेऽहंपतिष्यामीति चिंतनपरंपरयाऽवरुद्धगतिरिव साङ्गुष्ठांगुली-सन्दानितोऽपि कवलो मुखमुपगच्छन्नपि पुनर्वव्रले। अयं खलु तपस्यँस्तपस्वी मास्म मां भस्मसात् कुरुतादितीव तत्कोपोऽपि प्रकामं पलायाञ्चक्रे। पुत्रं प्रति अशनिनिशिताः पितरोऽपीति निन्दिष्यन्ति नीतिनिपुणा इति समुज्जीवितं प्रेम्णापि। हन्मि तनयमिति चिन्तितं मनसापि। निर्दयानि वयमिति चिराय कम्पितं रोमभिरपि।

अविलम्बमुत्थाय समुपेयाय शिशुमुनिमात्मीयम्। उवाच चातुरवाचा करुणान्तस्तलमास्पृशन्निव। अङ्ग अङ्गज ! इदानीमपि न चेतयसि, नावबुध्यसे कठोर ! नावलोकसे, साम्प्रतं तवासाम्प्रतमाचरितमुद्वीक्ष्य, प्रोषिता मम मुद्, तपन्ति अन्त्राणि, रोदिति हृदयम्, भरन्ति चक्षूंषि। किमिदानीमपि न मंस्यसे ममानुरोधम्। किन्न सभाजयिष्य सिममान्तःकरणम्। त्वं विनीतोऽसि पुत्र ! त्वं नैवं कदाप्याचरस्तनुभव ! सदाकार्षीर्विनयमेव विनीतः। अहं स्मरामि किञ्चिदुक्तोऽपि त्वं मामन्वनैषीरसकृत्। स एव त्वं वारंवारमनुनीतोऽपि मया न प्रीणासि। किं जातमेतादृक् तव, तेन मत्तोऽप्यतिरेकमनुरज्यसि भिक्षणा। अस्तु, यज्जातं तज्जातमेतर्ह्यपि हठं जहीहि। अह्नाय उत्तिष्ठ, उत्तिष्ठ। भुंक्ष्व भुंक्ष्व। पश्यसि एव नहि, पुत्र ! एवं न क्रियेत मतिमता। त्वं सुज्ञोऽसि, मन्यस्व, मन्यस्व।

४४—पिता के क्रोध का उपशम

आहार लेकर पिता स्थान पर आए और खाने के लिए हाथ बढ़ाया। 'क्या मैं ऐसे कठोर उदर में पड़ूंगा'—ऐसी चिन्तन-परम्परा से अवरुद्ध गतिवाले की तरह अंगुष्ठ और अंगुली से पकड़ा हुआ 'कोर' मुख के पास आता हुआ भी पुनः मुड़ गया। तपस्या करता हुआ यह तपस्वी मुझे भस्मसात् न कर दे'—इस भावना से उसका क्रोध भी पलायन कर गया। 'पुत्र के प्रति पिता भी वज्र की तरह तीक्ष्ण होते हैं' —इसप्रकार नीति निपुण व्यक्ति निन्दा करेंगे, इस भावना से प्रेम भी जीवित हो उठा। मैं पुत्र को मार रहा हूँ—यह मन ने भी सोचा। 'हम निर्दय हैं'—ऐसा सोच रोम भी बहुत देर तक कम्पित हुए।

तत्क्षण उठकर पिता अपने पुत्र शिशु-मुनि के पास आए। करुणा के अन्त-स्तल को छूते हुए आतुर वाणी में कहा—पुत्र अब भी नहीं चेत रहा है, नहीं समझ रहा है, कठोर! देख नहीं रहा है। अभी तेरे अनुचित आचरण को देखकर मेरा हर्ष जल उठा है, आंते तप रही हैं, हृदय रो रहा है, आँखें निर्झर हो रही हैं। क्या अब भी मेरा अनुरोध नहीं मानेगा? क्या मेरे अन्तःकरण में प्रेम नहीं उडेलेगा? तू विनीत है पुत्र! तू ने कभी ऐसा आचरण नहीं किया है अंगज! विनीत! तू ने सदा विनय ही किया है। मुझे याद है, थोड़ा कहने पर भी तू बार-बार मेरा अनुनय करता था। वही तू मेरे द्वारा बार-बार अनुनय किए जाने पर भी मुझसे प्रसन्न नहीं हो रहा है। तेरे ऐसा क्या हो गया कि जिससे तू मुझसे अधिक भिक्षु स्वामी में अनुरक्त हो रहा है। अस्तु जो हुआ सो हुआ अब भी तू हठ को छोड़ जल्दी उठ, उठ! खा,खा! देखता ही नही? पुत्र! बुद्धिमान् ऐसा नहीं करते। तू सुज्ञ है मान, मान।

४५—इष्टसिद्धिः

पितः! इदानीं पर्यन्तं किं जातम्। किमपि नहि। इष्टं साधयेयं वा पातयेयं शरीरमिति दृढं प्रतिजानतो ममैतद् अकिञ्चित्करमेव। नाहं रुचेरस्मि दासः। न पानेच्छापि वपुषाऽत्मनः पार्थक्यमवगच्छतो मम बाधामुपस्थापयति। न मामसुपद्रोतुमीष्टे दीर्घनिद्रापि। योऽहं सर्वथा जीवनमरणपरंपरामुच्छेत्तुमभ्युत्थितोऽस्मि सो ऽहं किमाशङ्के ऽरिष्टम्। भुङ्क्तां सुखं भवान्। न मां शोचतु। इति तूष्णीमवतस्थे।

द्वितीयमपि दिनं यथा प्रवर्तितमुष्णरुचा तथैव निवर्तितम्। उपदीकृता निशामणिना निशीथिनी। शयितं ताभ्यामिति साधयितुमिव-सुप्तोऽपि संयमी जागर्ति, शेते जागरितोऽप्यसंयमी इति। निशान्ते दिनम्, दिनान्ते निशा, इति प्रकाशयितुमिव गतं विभावर्या, आगतमिवानुचरेण दिनेन। सत्याग्रहमहिमा भवतु वासर इवावदात इति प्रसृतं परितःप्रकाशेन। अहो! कीदृगियं भीष्मप्रतिज्ञा, अहो! कीदृगियमग्निपरीक्षा, इति नानाविधविकल्पमालामन्थरगतिर्दिवसो विलम्बेन प्रयातोऽग्रिमप्रदेशम्। अह्नाय दर्शंदर्शं १४ वर्षीयशिशोर्गभीरां तपस्यां चलितं पितुश्चेतसा। क्षिप्तान्तर्दन्तमंगुली। परितः समुद्गता परिस्वेदविन्दवः। सवेपथुस्तनुः। रोमोद्गमवती त्वक्।

सपुत्रः पूज्यपादान् समेत्य गद्गदं जगाद—स्वायत्तीकृतशिशुहृदयाः! सदयाः! आर्याः! अमुं स्वीकुर्वन्तु शिशुम्। विदधतु कृपाम्। जीवयन्तु जीवयन्तु सद्यः। अर्पयन्तु आहाराज्ञाम्।

उक्तमाचार्येण—अनुमतिर्भवतः?

देव! प्रार्थयामि देवम्। सुखमास्तामयं भवत्सेवाहेवाकतामावहन्।

शिष्य! समजनि तव पितुराज्ञा। सुखं तिष्ठ। पारणकं कुरु ममादेशेन। साधयात्मानम्। अजायत फलेग्राही तव सत्याग्रहः। (इति पूरितमनशनम्)

४५—इष्ट-सिद्धि

पिताजी ! अभी तक क्या हुआ है ? कुछ भी नहीं। 'करूँ या मरूँ की प्रतिज्ञा करने वाले मेरे लिए यह अकिंचित्कर है। मैं इच्छा का दास नहीं हूँ। मैं शरीर और आत्मा को भिन्न मानता हूँ। इसलिए पानी की इच्छा भी मेरे पथ में बाधा उपस्थित नही कर पाती। मुझे मृत्यु भी नहीं सता सकती। जो मैं जीवन-मरण की परम्परा का सर्वथा उच्छेद करने के लिए उठा हूँ, वह मैं क्या उपद्रव से डरूँ ? आप सुख से भोजन करें। मेरी चिन्ता न करें—यह कहकर वह मौन हो गया।

दूसरा दिन भी जैसे आया था, वैसे ही लौट गया। चन्द्रमा ने रात्रि को उपहृत किया।

वे दोनों मानों इसे सिद्ध करने के लिए सो गये कि "संयमी सोता हुआ भी जागता है और असंयमी जागता हुआ भी सोता है।"

रात के बाद दिन और दिन के बाद रात होती है—यह बताने के लिए रात बीत गई, दिन उगा। "सत्याग्रह की महिमा दिन की तरह अवदात हो"—यह दिखाने के लिए चारों ओर प्रकाश फैल गया। "अहो ! यह कैसी भीष्म-प्रतिज्ञा, अहो ! यह कैसी अग्नि-परीक्षा इस प्रकार नानाविध विकल्प-जाल से मंथर गति वाला दिवस विलम्ब से आगे बढ़ा।

चौदह वर्षीय शिशु की गम्भीर तपस्या को देख देख-कर पिता का मन कांप उठा। दांतों तले अंगुली दबाली। चारों ओर पसीने की बूँदे छलक पड़ीं। शरीर कांपने लगा। रोमोद्गम हो गया। पुत्र को साथ लिए पूज्यपाद के पास आ (पिता ने) गद्गद्-गद्गद् स्वर से कहा—"शिशु हृदय को वश में करने वाले ! सदय आर्य ! इस शिशु को स्वीकार करें। कृपा करें। उसे जीवित रखें जीवित रखें। आहार करने की आज्ञा दें।"

आचार्य ने कहा—"तुम्हारी अनुमति है ?"

"देव ! मैं आपको प्रार्थना करता हूँ। यह आपकी सेवा करता हुआ सुख से रहे।"

शिष्य ! तेरे पिता की आज्ञा हो गई है। सुख से रह, मेर आदेश से 'पारणा' कर। आत्मा को साध। तेरा सत्याग्रह फलदायी हो गया। (अनशन पूरा हुआ)

४६—गर्वोक्तिः

"कवे ! गर्वोन्मत्तोऽहमिति न परिकल्पनीयम्। वितर्केऽहं निशि दिशि-दिशि तमः प्रसारमश्नुते। सुखं शेते सकलमपीदं जगत्। न जाने कदाचित् कुतोऽप्यवितर्कितमपि भवेत्। अपि चिरमाकाशमिदमनालम्बं पतेत्, तर्हि कः स्यादुपष्टम्भो नाम परो मम पादयोरिति भवाम्युत्पादशयनः। विश्वसिहि कवे ! नासौ मम गर्वोन्मादः।"—सस्मितमुक्तमिति टिट्टिभेन।

४६—गर्वोक्ति

"हे कवे ! मैं गर्वोन्मत्त हूँ, ऐसी तू परिकल्पना मत कर। मैं सोचता हूँ कि रात्रि में जब अन्धकार चारों दिशाओं में व्याप्त हो जाता है और उस समय सारा जगत् निश्चिन्त हो सुख की नींद सोता है, तब प्रतिपल यह आशंका बनी रहती है कि कहीं कुछ अनिष्ट न हो जाय। यदि उस समय यह निरालम्ब आकाश नीचे गिर पड़े, तब उसे कौन झेले ? इसीलिए मैं अपने पैरों को ऊँचे किए सोता हूँ। कवे! विश्वास कर, यह मेरा गर्वोन्माद नहीं है"—सस्मित टिट्टिभ ने कवि से कहा।

४७—विषं पिब

सुधां पायं पायं मनुष्यः क्लान्तिं गतः। कुण्ठिता तद् गतिः। इदानीं समयः। स पिबेत् विषबिन्दून्। अन्यथा सुधा स्वयं विषत्वे परिणतिमेष्यति।

मनुष्योऽस्ति विवेकी। स मर्म वेत्ति प्राकृतानां नियमानाम्। ऊर्ध्वं नयति जलं नालिकया तावदेव यावतीमुच्चतां व्याप्य तदेति स्थितिम्। हन्त व्यामोहः—स्वयोग्यतास्मृतेपि प्रोन्नतं पदमधिरुरुक्षुरवगणयति नियमसेनम्। केन न ज्ञायते, समतलमम्बु नीयते निम्नस्थानात् प्रयुज्य शक्तिं प्रचुराम्। तदुच्चैः क्षिप्तमपि पुनरधो याति, करोति क्षेपकमेव धूलिकणावगुण्ठितम्।

× × ×

ऋतमिदं न लाघवं विनोर्ध्वं गतिमेति कश्चित्। स्वातन्त्र्येण विहरमाणमपि जलं स्थितिमभजन्निम्नाम्। तदेव पात्राश्रितं तापसंतप्तमभूल्लघु। वाष्पोऽयमाकाशमेतीति संविदाने जने तदलीयत तमासनन्ते। अतप्तेन केन लाघवं नीतम्, विनामुना च केन सान्निध्यमनन्तस्य।

× × ×

रविः स्वप्रसूमरैरश्मिभीरसमादाय भुवो न्यलीयत मुखं सुदूरदेशे। निसर्गोऽयं विदेशवासिनाम्। यदि पुनारसोऽपि द्रवीभावमनासाद्य महीमम्बुपूरितां नाकरिष्यत्, तन्नूनं कृतघ्नमभविष्यत्।

× × ×

विषं पिब। पिबसि पीयूषमनिशं तेन तवोद्गारोऽपि समजनि सविकारः। नोल्लङ्घनीयो लङ्घनक्रमः। अन्यथा सुधा मुधा भविष्यति। विषममृतीकृतं येन तेन नीलकण्ठो बभूवः शङ्करः। कोऽतिशयो नामामृतनिपाने। गरलं करोति जीर्णं तीर्णं तेन बहु-सुबहु।

× × ×

कठिनं सरलीकुरु। उपलशकलानि कुरु सलिलम्। सलिलमुपलीकर्तुमर्हन्ति केचन महाबला अपि सुशीतलाः। ग्रैष्म्यमपि तन्न किमाभजनीयममुना जाड्यमपनीतं भवेत्।

४७—विषपान कर

अमृत पी मनुष्य क्लान्त हो गया है। उसकी गति कुण्ठित है। आज उसे विष की बूंदे पीनी होंगी अन्यथा अमृत स्वयं विष बन जाएगा।

मनुष्य विवेकी है। वह प्राकृतिक नियमों का मर्म जानता है। वह पानी को नालिका द्वारा उतना ही ऊँचा ले जाता है, जितना कि वह ऊँचा जाकर ठहर सके।

अपनी क्षमता के बिना ऊँचा चढने वाला इस नियम की अवहेलना करता है। यह कौन नहीं जानता कि पानीं को निम्न स्थान से समतल पर लाने में कितनी शक्ति खपानी पड़ती है। उसे ऊँचा फेकने पर भी वह नीचे लौट आता है और फेकने वाले पर धूलि उछालता है।

× × ×

यह सच है, लघु बने बिना कोई भी ऊँचा नहीं उठता। जल स्वतन्त्रता से घूमता-फिरता नीचे चला गया। वह पात्र में पड़ा और तपा कि लघु हो गया। वाष्प बन अनन्त में लीन हो गया। तपे बिना कौन लघु हो सकता है और लघु बने बिना कौन अनन्त को छू सकता है?

× × ×

रवि अपनी प्रसरणशील रश्मियों से भूमि का रस खींच सुदूर देश में चला गया। इसमें क्या आश्चर्य! यह विदेशी का स्वभाव है। वह रस द्रवित होकर पुनः भूमि पर नहीं आता, उसे अभिषिक्त नही करता तो अवश्य ही वह कृतघ्न होता।

× × ×

अब विषपान कर। चिरकाल से तू अमृत पीता रहा है। अतः तेरा उद्गार भी विकृत हो चला है। लंघन के क्रम का उलंघन मत कर अन्यथा अमृत व्यर्थ हो जाएगा। विष को अमृत किया, इसीलिए नीलकंठ शंकर बना। अमृत पीने मे क्या विशेषता है? जिसने विष को पचा लिया, वह पार पा चुका है।

× × ×

कठिन को सरल बना, कठोर को मृदु। वह ठंडक किस काम की, जो पानी को पत्थर बनाती है और वह गर्मी भी क्या बुरी है जो पत्थर को पानी बनाए।

४८—ग्रन्थिः

ग्रन्थिमुन्मोचय। इतस्ततः परिभ्रान्तिमाप्नुवता दवरकेण क्रियते स्वयमात्मनि ग्रन्थिः, परन्तु नेतस्ततो भ्रमणेन भवति स च सुमोचः। के न ग्रन्थिकरणकुशलाः किन्तु कति सन्ति तन्मोचनचतुराः। वरं मिलनमपि न वरं यत्र स्याद् ग्रन्थि; यो हि प्रतिबन्धोऽस्ति पथः।

मालामावर्तयतामालम्बनं सोऽपि ग्रन्थिः। ग्रन्थिश्च परिरक्षति मुक्तामणींश्च प्रतनतः। ससूत्रोऽसौ भवेत्। ससूत्राणां ग्रन्थिर्भवति सहजानन्दविवर्तः। तन्न निरोधनिबन्धनम्। बद्धोऽपि मुक्तिं चर, मुक्तिं भावय। ग्रन्थिरग्रन्थिर्भविष्यति। ससूत्रं चर, सरलो भविष्यति पन्था।

४८—ग्रन्थि

गांठ खोल डाल इधर-उधर चलता हुआ सूत्र अपने आप में गाठ वना लेता है परन्तु इधर-उधर घूमने से वह गाठ खुलती नहीं। गांठ पैदा करने में कौन कुशल नहीं है परन्तु उसको खोलने का कौशल विरलों में है। मिलना अच्छा है, परन्तु जहाँ गाठ हो वहाँ नहीं, क्योंकि वह पथ का रोड़ा है।

माला फेरने वालों के लिए आलम्बन ग्रन्थि ही होती है। ग्रन्थि मुक्ता और मणियों को नीचे गिरने से वचाती है। परन्तु शर्त इतनी ही है कि वह ग्रन्थि ससूत्र हो। जो ससूत्र हैं, उनके लिए ग्रन्थि भी सहज आनन्द देने वाली होती है। वह निरोध का कारण नहीं बनती तू बद्ध होने पर भी मुक्ति की ओर चल—मुक्ति की भावना रख, गांठ खुल जाएगी। ससूत्र चल, मार्ग सरल हो जाएगा।

४६—मुक्ति-प्रेम

ज्येष्ठो मासः। कराला धूपलहरी। काष्ठपट्टिकायां स्थापितो नवो घटः पानीयहारिणा। अधस्तात् तप्तपवनेन प्रतप्ता सिकता व्यराजिष्ट।

दुःसह्यं बन्धनम्। बलिदानमनयत् प्राकट्यम्। बिन्दुरेको गलितः। तत्कालमेव शोषितो घटस्यानुगामिन्या मृदा। द्वितीयो गलितस्तथैव कवलितस्तया। न दृष्टं मया सर्वेषामपि बिन्दूनां मुक्ति-प्रेम विगलतां शुष्यताञ्च। न दृष्टं मया मृदः समरसा नृशंसता। दृष्टं मयेदानीं घटो रिक्तः।

४६—मुक्ति-प्रेम

जेठ का महीना था। धूप लहरी विकराल बन रही थी। पनिहारी ने जल का तपा घड़ा काठ की पट्टी पर ला रखा। नीचे गर्म पवन से तप्त धूलि थी।

बन्धन असह्य होता है। बलिदान का भाव उत्कृष्ट हुआ। जल का एक बिन्दु नीचे गिरा। मैंने देखा—धूलि ने उसे सोख लिया। दूसरा गिरा, पर वह भी बच नहीं सका। नीचे गिरते और सोखे जाते हुए सब बिन्दुओं का मुक्ति-प्रेम मैंने नहीं देखा और मिट्टी की सम-रस नृशंसता को भी मैंने नहीं देखा। पर मैंने देखा कि अब घड़ा खाली है।

मुकुलम्